Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

L-5

भारतीय मनोविज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय मनोविज्ञान

नारायण शास्त्री द्राविड़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय मनोविज्ञान के प्रकाशनार्थ भाषा विभाग, पंजाब की ओर से परिषद् को १५०० रु० का अनुदान प्रदान किया गया। भाषा विभाग, पंजाब के इस अनुग्रह के लिये परिषद् भाषा विभाग के अधिकारियों के प्रति आभार प्रदर्शन करती है।

मंत्री

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय मनोविज्ञान

सम्पादक :
प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़
अध्यक्ष स्नातकोत्तर दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकाशकः
यश देव शल्य
मंत्री, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्
फरीदकोट, पंजाब ।

प्रथमावृत्ति मार्च १९६३

मुद्रकः गुर अमृत प्रिंटिंग, प्रैस
फरीदकोट ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक प्रमुख नायक
भारती के उद्भट विद्वान
मर्मज्ञ दार्शनिक
महामहिम डॉ० सम्पूर्णानन्द जी को
सादर समर्पित

सम्पादक–प्रकाशक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषय सूची

१.	योगवासिष्ठ के अनुसार मन का स्वरूप, शक्तियां और निरोध	भीखन लाल आत्रेय	१
२.	महाभारत में अन्तःकरण का स्थान और व्यापार — — —	वि. मि. वेडेकर	२१
३.	भारतीय मनोविज्ञान में प्रत्यक्ष का स्थान —	रामचन्द्र पाण्डेय	३७
४.	अन्तःकरण — — —	जि. ना. मोहान्ती	६६
५.	वेदान्तीय मनोविज्ञान के कुछ पहलू —	अ. ग. जावडेकर	७७
६.	योग दर्शन का मनोविज्ञान — —	पी. एस. शास्त्री	८७
७.	आयुर्वेद तथा मनोविज्ञान — —	व. स. येरकुंटवार	९५
८.	तंत्र मनोविज्ञान के मूलतत्व — --	पी. एस. शास्त्री	१२०
९.	भारत में आधुनिक मनोविज्ञान — —	नी. र. वर्हाड्पांडे	१२३
१०.	भारतीय मनोविज्ञानः पर्यवेक्षण — —	नारायण शास्त्री द्राविड़	१३१
११.	पुस्तक के लेखकों तथा संपादक का परिचय		१४७
१२.	अनुक्रमणिका		१४९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्पादकीय

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की दार्शनिक पुस्तक माला के अन्तर्गत, भारतीय मनोविज्ञान से संबंधित मौलिक लेखों के प्रस्तुत संकलन को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी जगत् में यह पुस्तक एक बिलकुल नया प्रयास है। मनोविज्ञान पर वैसे बीसियों पुस्तकें आजतक हिन्दी में छप चुकी हैं लेकिन इनमें से एक ने भी भारतीय मनोविज्ञान की पूर्ण या आंशिक भी विवेचना प्रस्तुत नहीं की। जो मनोविज्ञान महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है, और पहले भी पढ़ाया जाता था, वह पश्चिम के विद्वानों की ही खोजबीन का परिणाम है। इस पढ़ाई से सुशिक्षित जनता इतनी प्रभावित हो गयी है कि उसके लिये यह जानकारी कि भारतीयों ने भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से अनुसंधान किये हैं, बिलकुल आश्चर्यकारक होती है।

लेकिन भारतीय वाङ्मय में प्रभूत मात्रा में मनोवैज्ञानिक सामग्री होते हुए भी उसका संकलन करना अतीव कठिन कार्य है। यह स्थिति आकस्मिक नहीं है। भारतीयों की संश्लेषणात्मक दृष्टि ही इसका कारण है। मन एक ओर शरीराधिष्ठित है और दूसरी ओर वह आत्मा के द्वारा नियंत्रित है। उसका अस्तित्व केवल आंतरिक अनुभवगम्य या अनुमेय है। ऐसे मन का अध्ययन आत्मा या शरीर का विचार अलग रखकर नहीं किया जा सकता। इसी कारण, जिस प्रकार आयुर्वेद के ग्रंथों में मन का विचार भारतीयों ने प्रस्तुत किया है उसी प्रकार योगशास्त्र में—जो कि शरीराधिष्ठित मन का शास्त्र है—और अन्यान्य दर्शनों में भी उसके संबंध में अनेकानेक प्रस्तुत किये हैं। मनोवैज्ञानिक विचारों का बिलकुल ऐसा स्वतंत्र, ऐसा प्रस्थान भारतीय वाङ्मय में रचा नहीं गया है।

यह बात सही है कि संसार में सभी बातें एक दूसरे से साक्षात् या परंपरया संबंधित हैं। अतः यद्यपि एक विषय के विचार को दूसरे विषयों के विचार से बिलकुल पृथक् नहीं किया जा सकता तथापि सभी विचार एक ही साथ चलने असंभव होने के कारण थोड़ा तो वैचारिक पृथक्करण करना ही पड़ता है। अतः मनोविज्ञान के स्वतंत्र अध्ययन का अभाव, यदि वह वास्तव में भारतीय वाङ्मय में होता तो, जरूर खटकता। लेकिन सौभाग्य से ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। 'योग दर्शन' ऐसा एक प्रस्थान है जिस में मन या चित्त को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान देकर विचार चलाया गया है। यही कारण है कि अन्यान्य दर्शनों ने इस दर्शन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्रभूत मात्रा में अपनाया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तुत पुस्तक को यथाशक्ति सर्वांग परिपूर्ण बनाने की हमारी तीव्र अभिलाषा थी। लेकिन अनेक अनिवार्य कारणों से हम अपनी अभिलाषा पूर्ण नहीं कर सके और हमें प्रस्तुत सामग्री से ही संतोष कर लेना पड़ा। भारतीय मनोविज्ञान का समीक्षणात्मक अध्ययन करने वाले विद्वान् भारत में ही बहुत कम हैं, और जो हैं उनमें से बहुत ही कम लोगों ने हिन्दी में लिखने में रुचि दिखलायी है। हमारे कुछ दार्शनिक बन्धुगण तो इस विचार के थे कि हिन्दी में किसी भी दार्शनिक विषय पर कुछ भी लिखना व्यर्थ है। शायद उनका यह ख्याल है कि जैसे हमने पश्चिम से अंग्रेज़ी उधार ली है वैसे ही अक्ल भी। हममें अपनी अक्ल या मौलिकता हो ही कहां सकती है ! ऐसे महापुरुषों के लिये यह प्रयास नहीं है, यह हम पहले ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

जिन जिन लोगों से हमें विचार परिपलत निबंधों की आशा थी उनमें से कइयों ने हमें निराश किया, आश्वासन देकर भी उनकी पूर्ति नहीं की और महीनों तक हमें लटकाये रखा। इन महानुभावों के प्रति हमें कुछ कहना नहीं है। लेकिन डा० आत्रेय, डॉ० जावडेकर, श्री वेडेकर जैसे अत्यन्त व्यस्त, कार्यरत विद्वानों ने अपनी अनेक व्यस्तताओं के बावजूद भी जो हमें सहयोग प्रदान किया उसके लिए हम उनके, और हमारे अन्य लेखकों के भी, चिरऋणी रहेंगे।

आशा है भारतीय मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक बन्धु हमारी इस अपने ढंग की निराली कृति को अपना कर हमें प्रोत्साहित करेंगे।

प्रोफेसर्ज़ कालोनी,
हनुमान नगर, नागपुर।

नारायण शास्त्री द्राविड़

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

I

योगवासिष्ठ के अनुसार मन का स्वरूप, शक्तियां और निरोध

भीखन लाल आत्रेय

योगवासिष्ठ संस्कृत भाषा में एक वहुत उच्चकोटि का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ है। यह कव लिखा गया होगा, किसने लिखा होगा, इस पर वहुत मतभेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार और ग्रन्थ के कथनानुसार इसमें गुरु वसिष्ठ द्वारा अयोध्या के युवराज रामचन्द्र को दी हुई शिक्षा है जिसको आदि कवि वाल्मीकि ने पद्यात्मक रूप में वर्णन किया है। वहुत से कारणों से यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि वर्तमान योगवासिष्ठ वहुत पुराने समय की रचना है। वहुत लोग तो इसको शंकराचार्य के पीछे की रचना मानते हैं, पर लेखक के विचार में यह ग्रन्थ शंकराचार्य से वहुत पहिले का लिखा हुआ है, किन्तु माध्यमिक और विज्ञानवादी वौद्ध मतों के प्रचार से पीछे का है।

चाहे जितना प्राचीन यह ग्रन्थ हो, इसके विचार आधुनिक दार्शनिक और मनो-वैज्ञानिक विचारों से बहुत मिलते जुलते हैं, जैसाकि प्रस्तुत लेखक ने अपनी पुस्तक 'योगवासिष्ठ एण्ड मोडर्न थाट' (Yogavasistha and Modern Thought) में दिखलाया है।

प्राचीन भारतीय दर्शनों से योगवासिष्ठ के विचार वहुत भिन्न हैं। योग-वासिष्ठकार स्वयं यह स्वीकार करता है और वतलाता है कि मन के स्वरूप और उसके नाना नाम और रूपों के सम्वन्ध में उसका भारत के अन्य प्रायः सभी दर्शनों—न्याय सांख्य, चार्वाक, जैमिनीय (मीमांसक), आर्हत (जैन), वौद्ध, और वैशेषिक और पांचरात्र आदि—से मतभेद है। और वास्तव में है भी, क्योंकि मन का इस प्रकार का स्वरूप किसी दूसरे भारतीय दर्शन में नहीं माना गया है। वासिष्ठ का विचार सर्वथा मौलिक और महत्वपूर्ण है। यहां पर हम योगवासिष्ठ के अनुसार मन के स्वरूप, उसकी शक्तियों, और उसके निरोध के उपायों का वर्णन करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(अ) मन का स्वरूप

मन क्या है:–

आत्मा की संकल्प शक्ति का नाम मन है। जब आत्मा संकल्प करने लगता है तो वह मन कहलाता है। मन का काम संकल्प के द्वारा विषयों की रचना करना है। मन ही संकल्पों द्वारा संसार की रचना करता है। वह आत्मरूप से तो चेतन है किन्तु दृश्य रूप से जड़ है। जब अपने स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप का विस्मरण होकर कर्तृत्वपन का निश्चय दृढ़ हो जाता है और किसी विषय की ओर ही ध्यान रहता है उस समय आत्मा का रूप मन हो जाता है। मन का काम भावना है। जब किसी विषय का संकल्प किया जाता है तो वह क्रिया द्वारा उस रूप में परिणत होकर भावना द्वारा वही विषय बन जाता है। सब दृश्यमान पदार्थ मूर्तिमान् संकल्प–क्रियायें और भावनामात्र हैं। विषयों की ओर प्रवृत्ति के कारण अपने आत्मरूप का विस्मरण हो जाता है और निजानन्द का अनुभव नहीं होता। विषयों की जड़ता और क्षणभंगुरता का ही अनुभव होता रहता है। आत्मा ही का एक आकार होने के कारण यद्यपि मन (आत्मभाव) से आकाश की नाईं सर्वत्र व्याप्त है तो भी यह अपने आपको सीमित समझने लगता है। वह सूक्ष्म होते हुए भी भावना के दृढ़ होने पर स्थूल रूप धारण कर लेता है।

मन और ब्रह्म का भेद:–

चेत्य (विषय) से रहित चित्त (आत्मा) सनातन ब्रह्म है। वही चित् चेत्य (विषय, दृश्य) से युक्त मन कहलाता है। ब्रह्म विषय से तनिक भी संस्पृष्ट होने पर मन हो जाता है (अर्थात् जब ब्रह्म में किसी विषय का अनुभव आ जाता है तो वह मन बन जाता है)। भावना रूप मन का और शुद्ध ब्रह्म का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा सोने के गहनों और सोने का, स्पन्दन और वायु का, शून्यत्व और आकाश का। अर्थात् दोनों एक ही हैं और भिन्न भी हैं।

मन के अनेक रूप और नाम:–

जैसे एक ही अभिनेता 'नाटक करने वाला) अनेक प्रकार का अभिनय करते हुये अनेक रूपों और नामों में जाना जाता है, वैसे ही भिन्न भिन्न व्यापारों को करते हुए एक ही मन अनेक रूपों और नामों को धारण कर लेता है। नाना प्रकार की क्रियाओं को करते हुए जो मन के अनेक नाम और रूप होते हैं उनमें से कुछ ये हैं:—

मन:– परम चित्सत्ता जब स्पन्दनयुक्त होकर कल्पनात्मक रूप को धारण करके विषय (दृश्य) से गर्भित होती है तो वह मन कहलाती है।

बुद्धि:– वही परम चित् जब एक परिमित रूप को धारण करके विषयों की भावना करके 'यह अमुक विषय है, वह अमुक' इस निश्चय को दृढ़ कर लेती है तब बुद्धि कहलाती है। यह पदार्थ इस प्रकार का है, इस स्पष्ट ज्ञान के कारण इसका नाम बुद्धि है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अहंकार:— "मैं हूँ" इस भावना के होने पर वह अहंकार कहलाती है, अर्थात् जबकि वह मिथ्या अभिमान के कारण अपने आप ही अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाकर संसारके बन्धन में पड़ जाती है तो उसका नाम अहंकार होता है।

चित्त:— जब वह बालक की नाई चंचल कलना बिना विचारे ही एक विषय को छोड़ कर दूसरे विषय का चिन्तन करती है तब वह चित्त कहलाती है।

कर्म:— स्पन्दन, अर्थात् क्रिया ही जिसका स्वभाव है ऐसी वह कलना अपने भीतर कमी (शून्यता) का अनुभव करके जब क्रिया द्वारा प्राप्त होने वाले किसी फल की ओर दौड़ती है तब वह कर्म कहलाती है।

कल्पना:— जब वह अकस्मात् अपने पूर्व विषय को छोड़ कर अप्राप्त इच्छित विषयों की कल्पना करने लगती है तब उसका नाम कल्पना होता है।

स्मृति:— पूर्वकाल में किसी वस्तु का अनुभव हुआ हो अथवा न हुआ हो, किन्तु निश्चय के साथ जब उसका ऐसा ध्यान आये कि यह वस्तु पूर्वकाल में अनुभूत हो चुकी है, तब मन स्मृति कहलाता है।

वासना:— जब किसी ऐसे पदार्थ की इच्छा, जिसका भोग अभी तक वास्तव में नहीं हुआ हो, इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसके सामने और किसी वस्तु की इच्छा न रहे, तब मन वासना कहलाता है। आगे-पीछे का विचार छोड़कर किसी वस्तु को प्राप्त करने की दृढ़ भावना को वासना कहते हैं।

अविद्या:— वास्तव में शुद्ध आत्म तत्व ही एक पदार्थ है। जब वस्तुतः विद्यमान न होते हुये भी आत्मा से अतिरिक्त किसी दूसरे तत्व के अस्तित्व का भान होने लगे तब उसका नाम अविद्या है। चूंकि ब्रह्म या आत्मा के अतिरिक्त मन कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये मन को कोई स्वतंत्र स्वसत्तात्मक पदार्थ समझना अविद्या कहलाता है।

माया:— मन में सत् को असत् और असत् को सत् बनाने का सामर्थ्य होने से इसको माया कहते हैं।

मल:— नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं द्वारा परम पद को भुला कर आत्मा की हानि करने के कारण मन को मल कहा जाता है।

प्रकृति:— इस दृश्य संसार के सब भावों का कारण होनें के कारण मन प्रकृति कहलाता है।

ब्रह्मा, ईश्वर और प्रजापति आदि:— सृष्टि करने में लगा हुआ मन ही कभी ब्रह्मा, कभी विराट्, कभी सनातन, कभी नारायण, कभी ईश्वर, और कभी प्रजापति कहलाता है।

जीव:— जीने और चेतन होने के कारण ही मन जीव कहलाता है। चेतन पदार्थ को ही जीव और पशु कहते हैं।

आतिवाहिक देह:— इसी को आतिवाहिक देह (सूक्ष्म शरीर) भी कहते हैं।

पुर्यष्टक:— प्रौढ़ संकल्पों से भरपूर होने से इसको पुर्यष्टक भी कहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्द्रिय:— मन को ही इन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि सुनकर, छूकर, देखकर, भोगकर, सूंघकर और विचार कर यह आत्मा को,जो इस शरीर का राजा (इन्द्र) है,आनन्द देता है।

भौतिक देह और पदार्थ:— शरीर की भावना होने पर मन शरीर बन जाता है और घर आदि पदार्थों की भावना से यह घर आदि पदार्थ हो जाता है।

मन कैसे अहंभाव धारण करता है:— संकल्प-शक्ति के जाग्रत होने पर संकल्प की स्थूलता के कारण जीव (मन) इस प्रकार अहंभाव को धारण कर लेता है जैसेकि आकाश नीलिमा को। जैसे अग्नि का छोटा सा कण इन्धन की अधिकता होने पर विशाल प्रकाश को धारण कर लेता है वैसा ही जीव (मन) भी स्थूल संवेदन के कारण अहंभाव को धारण कर लेता है। जिस प्रकार वायु अपने भीतर की शक्ति से ही संचालित होने लगती है वैसे ही अपने ही संकल्प के कारण जीव (मन) अहंभाव को,जोकि आकाशवत् होकर आत्मा को देश और काल में परिमित कर देता है, धारण करलेता है।

मन स्थूल शरीर का रूप कैसे धारण करता है:— परम ब्रह्म में स्वयं ही इस प्रकार की एक कल्पना का उदय होता है कि मैं प्रकाश का एक केन्द्र (मन) हूँ। इस केन्द्र का नाम जीवन (मन) है। अपनी ही भावना के द्वारा वह केन्द्र दीर्घ आकार को धारण कर लेता है। वह केवल द्रष्टा होते हुये भी दृश्य भाव को प्राप्त होता है। और एक ही में द्विरूपता (द्रष्टा और दृश्य) का उदय हो जाता है। अपने प्रकाश-केन्द्र में स्थित वह अपने संकल्प द्वारा स्थूलता का अनुभव करने लगता है। जैसी जैसी वह भावना करता है वैसे वैसे ही वह स्थूल होता जाता है, और नाना प्रकार के दृश्य पथार्थ उसके चारों ओर उपस्थित होने लगते हैं। दीर्घकाल तक यह भावना करने से कि 'मैं कुछ हूं', उसमें अहंभाव का उदय होता है। अपनी कल्पना द्वारा तब वह अपने को सूक्ष्म शरीर के रूप में देखने लगता है। अपनी कल्पना द्वारा, जैसेकि स्वप्न और संकल्प में, वह अपने आपको सूक्ष्म आकार वाला बनाकर अपनी सत्ता, ज्ञान, बुद्धि और चित्ता-दि अवस्थाओं का अनुभव करता है। देखने की भावना से वह जब आकाश में गमन करता है तब (पीछे चलकर) आंखों के रूप में परिणत होने वाले ही रन्ध्रों का, जिनके द्वारा वह देख सके, उदय होता है। इसी प्रकार जिसके द्वारा वह छू सके वह त्वचा, जिसके द्वारा वह सुन सके वह कान, जिसके द्वारा वह सूंघ सके वह नाक, जिसके द्वारा वह वस्तुओं का स्वाद ले सके वह जिह्वा बन जाता है। इसी प्रकार स्पन्दन करने के लिये प्राण, और नाना प्रकार की क्रियाओं को करने के लिये कर्मेन्द्रियों का उदय होता है। इस प्रकार विषय (रूप), विषय ज्ञान (आलोक) तथा विषय का प्रत्यय (मनस्कार) ये तीनों आत्मा (मन) की भावना से उदय होते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार और पांच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की तन्मात्रायें, ये सब मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं। पुर्यष्टक ही आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीर है। आतिवाहिक शरीर युक्त आत्मा, जो कि सूक्ष्म रूपवाला है, अपनी कल्पना में अपने को स्थूल अण्डाकार देह में स्थित अनुभव करने लगता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जीव (मन) अपने स्थूल शरीर की रचना करता है।

नाना प्रकार की शक्तियों से युक्त चित्त घनीभूत अहंभाव को प्राप्त होकर अपनी इच्छा से ही इस प्रकार बन्धन को प्राप्त होता है जैसाकि रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने बनाये हुये जाल में फँस जाता है।

मन या जीव अनन्त हैं:—

इस प्रकार संसार की भावना से युक्त चिति (चित्त) के रूपान्तर जीवकल्पित आकार वाले ब्रह्म से लाखों और करोड़ों की संख्या में अथवा असंख्य तादाद में भूत, वर्तमान और भविष्य में उत्पन्न होते हैं, जैसे किसी झरने से जल के कण या जैसे जल के ऊपर अनेक बुलबुले उठा करते हैं।

सब पदार्थों के भीतर मन है:—

संसार की सब ही वस्तुओं के भीतर चित्त (मन) वर्तमान है। जड़ पदार्थों के भीतर भी वासना ऐसे मौजूद रहती है जैसेकि बीज के भीतर पुष्प आदि और मिट्टी में घट। स्थावर (जड़) पदार्थों के भीतर भी वासनाओं की बीज़ रूपी चित्त-शक्ति सोई हुई अवस्था में उनके रस के रूप में सदा वर्तमान रहती है। यह शक्ति बीज में उल्लास के रूप में, जड़ पदार्थों में जड़ता के रूप में, द्रव्यों में द्रव्यता के रूप में, और कड़ी वस्तुओं में काठिन्य के रूप में होती है। जिस प्रकार लता के भीतर रहने वाला रस फूल और फल के आकार में विकसित होता है उसी प्रकार प्राणियों के वीर्य के रस के भीतर वास करती हुई यह चिति सब चेतन वस्तुओं का विकास करती है।

मन की सुप्त वासनायें:—

जिस सुषुप्ति अवस्था में वासना बीज रूप से स्थित रहती है वह सुषुप्ति सिद्धि के लिये नहीं होती। इसके विपरीत, जिस अवस्था में वासना का बीज ही नहीं रहता वह तुर्यावस्था सिद्धि देने वाली होती है। वह सुप्तावस्था, जिसमें भीतर सोई हुई वासना मन्द (सूक्ष्म) रूप से इस प्रकार मौजूद है जिस प्रकार बीज के भीतर अंकुर होता है, वह पुनर्जन्मप्रद होती है। समस्त स्थावर (जड़) पदार्थ इस प्रकार अपने भीतर सोई हुई वासनाओं को लिये हुए हैं अतएव नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेंगे। वासना, अग्नि, ऋण, रोग, द्वेष, स्नेह, वैर और विष इनका स्वल्प शेष भी बाधा देता है। वह सुषुप्तावस्था, जिसमें वासनायें सोई हुई हों और मन अपने भीतर लीन हो, सैंकड़ों दुःखों का कारण होती है। इसलिये, बुद्धिपूर्वक विचार कर, यथा-वस्तु अवलोकन करके, जानबूझ कर वासना का त्याग करना सर्वोत्तम त्याग है। उसके द्वारा ही कैवल्य पद प्राप्त होता है। आर्यों (सज्जनों) के साथ परस्पर विचार करके, और शास्त्रों को देखकर आत्मभावना में (जिसमें कोई वासना शेष न रहे) स्थित होना चाहिये।

मन का महत्व:—

मन इस संसाररूप माया चक्र की नाभि है। यदि इसको दृढ़ता से पकड़कर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थिर कर दिया जाय तो फिर संसार से बाधा नहीं होती। यह संसार मन के आश्रय पर ही चलता है। मन को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(आ) मन की अद्भुत शक्तियां:

मन सर्वशक्तिसम्पन्न है:—

मन का स्वरूप सर्वकर्तृत्व और सर्वशक्तयत्व है। मन जगत् को रचने वाला है, मन ही स्वयंपुरुष है। मन जिस वस्तु को प्राप्त करने का इरादा कर लेता है उसे अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। मन अपने भीतर जैसी भावना करता है, क्षण भर में वैसा ही हो जाता है। जो कल्पना चित्त के अन्दर उदय होती है वही बाह्य जगत् में स्थिर और फलयुक्त होकर प्रगट होती है।

मन में जगत् को रचने की शक्ति है:

मन का स्वभाव संकल्प है। जैसे जगत् की मन कल्पना करता है संकल्प द्वारा वैसा ही जगत् निर्मित हो जाता है। अहंभाव (मन) को ही जगत् का बीज समझना चाहिये। इस बीज से ही पहाड़, समुद्र, पृथ्वी और नदियों वाले जगत् रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है। चित्त ही जगत् का उत्पादक है। , वह जैसा संकल्प करता है उसी के अनुसार सत्, असत् अथवा सदसत् जगत् की उत्पत्ति होती रहती है। जाग्रत, स्वप्न, और भ्रम आदि सब अवस्थायें इस प्रकार मन के रूपान्तर हैं जैसेकि पत्ते, वेल फूल, फल आदि अंकुर के रूपान्तर होते हैं। देश और काल का विस्तार और क्रम भी मन के आधीन है। मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प।

जगत् की रचना करने में मन पूर्णतया स्वतंत्र है:—

मन अपने आप ही स्वतंत्रता पूर्वक शरीर की रचना करता है। देह भाव को धारण करके वह जगत् रूपी इन्द्रजाल की रचना करता है।

प्रत्येक मन मे इस प्रकार की शक्ति है:

प्रत्येक चित्त में इस प्रकार की जगत् के उत्पादन करने की शक्ति है। प्रत्येक चित्त में जगद्रूपी भ्रम का उदय पृथक् पृथक् होता है।

प्रत्येक जीव में सब कुछ प्राप्त करने की अनन्त शक्ति है

जीव जो कुछ चाहता है वह सब अपने आप ही सम्पादन कर लेता है। प्रत्येक जीव में चित्-शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति) वर्तमान है। जीव में जिस जिस प्रकार की शक्ति का उदय होता है उसी प्रकार का फल उसको प्राप्त होता है। जीव जैसा प्रयत्न करता है यथासमय उसका फल मिलता रहता है। कभी तप के रूप में, कभी देवता के रूप में, स्वयं आत्मा ही आत्मा की इच्छायें अकस्मात् पूरी कर देता है। अपने ही प्रयत्न के सिवाय कभी और कोई हमको सिद्धि देने वाला नहीं है। इसलिये जो प्राप्त करना चाहते हो उसके लिए प्रयत्न करो। अपनी वासना से प्रेरित होकर जो जैसा यत्न करता है वैसा ही फल पाता है। यहां दूसरा कोई हमारे भाग्य का निर्माण करने वाला नहीं है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सत्कर्म और शुद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती हो।

विषयों का रूप हमारे चिन्तन के आधीन है

संसार के सब पदार्थों का रूप हमारे चिन्तन पर निर्भर है। चिन्तन करते करते असत्य पदार्थ भी सत्य प्रतीत होने लग जाता है। जिस वस्तु का जिस भाव से चिन्तन किया जाता है वह वस्तु उसी प्रकार से अनुभव में आने लगती है। सदा अमृतरूप से चिन्तन करने से विष भी अमृत हो जाता है और सदा मित्रभाव से चिन्तन करने से शत्रु भी मित्र हो जाता है। निमेषमात्र समय भी कल्पभाव से चिन्तन करने पर अवश्य ही कल्प के समान अनुभूत होने लगता है। इसी प्रकार कल्प की यदि निमेषभाव से चिन्तना की जाए तो जरूर ही कल्प निमेष के समान हो जाता है। आत्मा का प्रभाव ही ऐसा है। कटुभाव से चिन्तन करने पर मीठी वस्तु भी कड़वी मालूम होने लगती है और मिठाई के चिन्तन से कड़वी वस्तुएँ मीठी मालूम पड़ने लगती हैं। मित्र-बुद्धि से शत्रु मित्र हो जाता है और शत्रु बुद्धि से मित्र शत्रु बन जाता है। जैसा खयाल जिसके मन में दृढ़ हो जाता है वह उसको प्रत्यक्ष रूप से वैसा ही अनुभव किया करता है। दृढ़ निश्चय वाला आत्मा जैसा जैसा चिन्तन करता है वैसा वैसा फल प्राप्त करता है।

जैसो दृढ़ जिसको भावना वैसा ही फल

दृढ़ भावना युक्त होकर मन जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है उसको उसी आकार में, उतने ही समय तक, और उसी प्रकार फल देने वाला अनुभव होता है। यहां पर किसी वस्तु को न सत्य कह सकते हैं और न असत्; जिसने जिसको दृढ़ निश्चय के साथ जैसा समझ लिया है उसे वह वैसा ही दिखाई पड़ता है। दृढ़ अभ्यास के द्वारा जो मनुष्य अपने मन में जिस प्रकार के भाव को स्थिर कर लेता है उसी प्रकार की उसकी वासनायें और क्रियाएं होने लगती हैं। बड़े शौक से वह उसी प्रकार की क्रियायें करने लगता है और उनके अनुसार अपनी भावना के अनुरूप फल पाकर उसका आस्वादन करके उसमें बँध जाता है। मनुष्य प्रत्येक वस्तु का रूप अपनी भावना के अनुरूप ही देखता है। क्या क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या नहीं इस प्रकार का निश्चय भी भावना द्वारा ही होता है। दृढ़ निश्चय वाले मन अपनी भावना के अनुसार ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं। जैसी भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है वैसा ही अनुभव होने लगता है। स्वयं तो न नीम कड़वा है और न गन्ना मीठा, न आग गरम, और न चन्द्रमा शीतल। जिस विचार का जीव के हृदय में दृढ़ अभ्यास हो जाता है वही विचार, चाहे वह कितना ही दुखदायी क्यों न हो, वार बार उदय होता है और जीव को अपनी ओर खींचता रहता है। शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह वस्तु उसी प्रकार की तुरन्त ही हो जाती है, जैसे जल में भँवर उत्पन्न हो जाता है। जीव अपने भीतर उसी प्रकार की वस्तुओं का अनुभव करता है जैसी वासनाओं से वह बँधा हुआ है। भावना के कारण ही वह अपने आपको समझने गता है। भावना के प्रभाव से ही जीव के लिए विष अमृत हो जाता है और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

असत्य पदार्थ भी सत्य हो जाता है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसका अनुभव होता है। इन्द्रियां और उनके विषय सब ही जीव के अपने खयाल से ही बने हैं।

अभ्यास का महत्व:-

किसी काम को बार बार करने का नाम अभ्यास है, उसी को पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसके विना किसी प्रकार की उन्नति नहीं होती। शुद्ध चित् (आत्मा) का उसी प्रकार का आकार दृढ़ हो जाता है जैसे आकार का उसमें अभ्यास होता है; यह बात बालक तक भी जानते हैं। भावना के अभ्यास से सूक्ष्म शरीर, जो कि वास्तव में शुद्ध चिदाकाश (आत्मा) है, आधिभौतिक (स्थूल) भाव को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार आधिभौतिक (स्थूल) देह भी सूक्ष्म धारणा के अभ्यास से पक्षी के समान आकाश में गमन करने लगता है। अभ्यास का इतना महत्व है। बराबर अभ्यास (यत्न) करने से नामुमकिन (असम्भव) से मुमकिन (सम्भव) हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं और विष अमृत हो जाता है। यत्न नाम वाले अपने ही पुरुषार्थ से, जिसका नाम दृढ़ अभ्यास है, मनुष्य को संसार में कामयाबी होती है, किसी दूसरे साधन से नहीं।

मन के दृढ़ निश्चय की शक्ति:-

मन के दृढ़ निश्चय को मिटाने या रोकने की किसी में शक्ति नहीं है। जिसके मन में जो निश्चय दृढ़ हो गया है उसको उसके सिवाय और कोई नहीं हटा सकता। बहुत समय तक जो बात किसी के मन में गहरे तौर पर बैठ गई है वह शरीर के नष्ट होने पर या शाप द्वारा भी मन से नहीं हटती। दृढ़ निश्चय वाले वीर मन को अपने निश्चय से हटाने की शक्ति किसी में नहीं है। किसकी ऐसी शक्ति है जो मन को अपने दृढ़ निश्चय से हटा सके?

जैसा मन वैसी गति:—

जैसा जिसका विचार वैसा ही उसका मन, और जैसा मन वैसी ही उसकी स्थिति होती है। उस स्थिति को दूसरी दशा में लाने के लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। जड़ और चेतन समस्त जगत् चित् के ही आधीन है। हमारा बन्धन और मुक्ति भी चित्त के हाथ में है।

दुःख-सुख भी चित्त के आधीन हैं:—

मन की मूर्खता से दुःख पहाड़ की चोटी की नाईं बढ़ते हैं और मन के द्वारा ही दुःखों का इस प्रकार नाश हो जाता है जैसेकि सूर्य के उदय होने पर पाले का। सब दुःख, सुख और अवस्थाओं का बनाने वाला और भोगने वाला मन ही है। मनुष्य मनोमय है, अर्थात् जैसा किसी का मन वैसा ही वह मनुष्य होता है। शुभ या अशुभ कर्मों का करने वाला मन ही है, इसलिये सुख-दुःख का भोगनेवाला मनुष्य का मन ही है। हाड़-मांस से बना हुआ शरीर सुख-दुःखों को भोगनेवाला नहीं है सब शरीरों में मन ही को सुख या दुःख का अनुभव होता है। जो अलौकिक आनन्द मोक्ष दशा में अनुभव में आता है उसके प्राप्त करने के लिये भी पुरुषार्थी लोग मन की ही साधना करते हैं,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

क्योंकि उसकी सिद्धि भी मन के शुद्ध होने पर ही हो सकती है।

जीव की परिस्थितियां उसके मन की रची हुई हैं:-

यह हमारा दृश्य जगत् चित्त की इच्छाओं के न रहने पर लीन हो जाता है। चित्त द्वारा रचा हुआ यह एक महान् स्वप्न है। जहां पर जिसने जैसी इच्छा दृढ़ कर ली है वहीं पर वह उसी प्रकार से फल देती है। यह नाना प्रकार के अनगिनत पदार्थों वाला और तत्वरहित संसार वासना के अनुसार नाना प्रकार के विस्तार को धारण करने वाले और फल प्राप्त करनेवाले संकल्पात्मक मन के कर्म द्वारा रचा हुआ है।

शरीर भी मन का ही बनाया हुआ है:-

जैसे रेशम का कीड़ा अपने रहने के लिये अपने आप ही अपना कोश तैयार कर लेता है वैसे ही मन ने भी यह शरीर अपनी वासनाओं की पूर्ति करने के लिये बनाया है। मन शरीर को अपने संकल्प द्वारा इस प्रकार बनाता है जैसेकि कुम्हार घड़े को। यह जो हड्डी और मांस का पंचभूतों से बना हुआ पुतला दिखाई पड़ता है वह शरीर नहीं है बल्कि मन की कल्पना द्वारा की हुई एक रचना है। जैसे स्वप्न-जगत् में सब पदार्थ संकल्प द्वारा रचे जाते हैं वैसे ही इस जाग्रत अवस्था के जगत् में भी सब वस्तुएं (शरीर भी) संकल्प द्वारा बनाई जाती हैं। यह शरीर केवल पूर्व काल की, अभ्यास द्वारा दृढ़ की हुई वासनाओं की एक आकारवाली मूर्त्ति है। देहभावना से मनको देहत्व का अनुभव होता है और देहभावना से स्वतन्त्र हो जाने पर देह के धर्मों का मन को अनुभव नहीं होता। अर्थात् जब तक हम अपने आपको भौतिक शरीर मानते हैं तब तक हमको शरीर के धर्म्मों का अनुभव होता है, किन्तु जब हम शरीरभाव से ऊंचे चढ़ कर अपने को मन और आत्मा समझने लगते हैं तब हम शरीर के धर्म्मों से मुक्त हो जाते हैं। उस समय हमें शरीर के सुखदुःखों का अनुभव नहीं होता, और इस प्रकार की भावना के धीरे धीरे परिपक्व हो जाने पर हम भौतिक शरीर नहीं धारण करते। जैसे जिस प्रकार की गन्ध हवा में छोड़ दी जाती है हवा उसी प्रकार के गन्धवाली हो जाती है। इसी प्रकार जैसे विचार किसी के मन में होते हैं उसका शरीर उसी प्रकार का आकार धारण करता रहता है।

मानसी चिकित्सा:-

शरीर मन का बनाया हुआ है और मन द्वारा ही इसकी वृद्धि और तबदीली होती रहती है। शरीर के सब रोग विचार और जीवन की अशुद्धि के कारण होते हैं। उनके दूर करने का सबसे उत्तम उपाय विचारों और जीवन को शुद्ध करना है। जब मन शुद्ध और पवित्र होता है और वासना उच्चकोटि की होती है तब शरीर नीरोग और सुन्दर रहता है। ये सब विचार आजकल के समय में 'क्रिश्चियन साइंस' के नाम से पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचलित होते जा रहे हैं और बहुत ही नवीन और महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, किन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार के विचार सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थे। योगवासिष्ठ इस प्रकार के विचारों की अनुपम निधि है। इसलिये यहां पर वसिष्ठ जी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के मानसी चिकित्सा सम्बन्धी कुछ विचारों को उद्धृत किया जाता है।

आधि और व्याधि:—

दुःख के दो कारण हैं, एक आधियां और दूसरी व्याधियां। उनके दूर होने से सुख होता है और ज्ञान द्वारा उनकी सम्भावना दूर होने का नाम मोक्ष है। शरीर के दुःखों का नाम व्याधि है और मानसिक दुःखों का नाम आधि है। दोनों मूर्खता से उत्पन्न होती हैं और तत्वज्ञान से दोनों का क्षय हो जाता है। गहरे मोह में डालने वाले मानसिक रोग अज्ञान से और 'यह वस्तु मुझे प्राप्त हो गई है यह नहीं हुई है' इस प्रकार के मानसिक विचारों से ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे वर्षा ऋतु में मेंह बरसता है। देह के रोगों की उत्पत्ति इस प्रकार होती है:— जबकि अज्ञान के कारण मनुष्य का मन उसके बस में नहीं होता और उसमें नाना प्रकार की तीव्र वासनायें उठती हैं, तो मनुष्य उनको पूरा करने के वास्ते अखाद्य द्रव्यों को खाने लगता है, अन्य (बुरे) स्थानों में जाने लगता है, अनुचित समय पर और अनुचित तरह के काम करने लगता है, दुष्ट पुरुषों के संग में बैठने लगता है, और अपने मन में खोटे भावों को स्थान देने लगता है। ऐसा होने पर उसकी नाड़ियां ठीक ठीक प्रकार से काम करना छोड़ देती हैं। कुछ नाड़ियों की शक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं, जिसमें उनके द्वारा जीवन शक्ति (प्राण) का शरीर के भीतर समान बहाव नहीं रहता और प्राण-शक्ति के संचार में उचित संगठन का ह्रास हो जाता है। ऐसा होने से शरीर की स्थिति डावाँडोल हो जाती है और उसमें नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होकर दुःख देने वाले अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

आधि से व्याधि की उत्पत्ति:—

चित्त में गड़बड़ होने से अवश्य ही शरीर में गड़बड़ होती है। शरीर में जब संक्षोभ होता है तो प्राणों के प्रसार में विषमता आ जाती है और प्राणों की गति में विकार होने से नाड़ियों के परस्पर सम्बन्ध में खराबी उत्पन्न हो जाती है। कुछ नाड़ियां तो शक्ति से अधिक पूर्ण हो जाती हैं और कुछ खाली हो जाती हैं। प्राणों की गति में खराबी पैदा होने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता, कभी अन्न अच्छी तरह नहीं पचता, कभी कम पचता है और कभी अधिक पचता है। प्राणों के यन्त्र में अन्न पहुँच कर वहां पर जमा होकर और सड़ कर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने लगता है। इस प्रकार मानसिक रोगों से शरीर के रोगों की उत्पत्ति होती है और उनके नाश होने पर इनका भी नाश हो जाता है।

आधि के क्षय होने पर व्याधि का क्षय:—

आधियों (मानसी रोगों) के क्षीण हो जाने पर उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियां (शारीरिक रोग) भी मिट जाते हैं। शुद्ध और शुभ कर्मों के करने से और सज्जनों के संग से मन इस प्रकार निर्मल हो जाता है जैसेकि सान पर चढ़ाने से सोना; और चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द (नीरोगता) का संचार होने लगता है। जीवन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के शुद्ध होने पर प्राणों की गति ठीक ठीक रीति से होने लगती है और शरीर में अन्न का पाचन ठीक ठीक होने लगता है, जिससे कि शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। मन के जैसे विचार होते हैं देह उन्हीं के अनुसार चलती है और उसी प्रकार की हो जाती है; जैसे हवा वैसी ही हो जाती है जैसी गन्ध उसमें छोड़ दी जाय।

मन्त्र चिकित्सा:—

मन्त्रों के अक्षरों में भी उसी प्रकार शरीर पर असर करने की शक्ति है जैसेकि दवाइयों में। किन्तु मन्त्रों का प्रभाव भावना द्वारा होता है।

जैसे हरीतकी (हरें) का स्वभाव ऐसा है कि उसके खाने से दस्त लग जाते हैं, वैसे ही भावना (दृढ़ विश्वास) द्वारा मन्त्रों के अक्षर (य, र, ल, व आदि) भी शरीर पर असर करते हैं।

मूल आधि:—

रोग दो प्रकार के होते हैं, एक सामान्य और दूसरा मूल। सामान्य रोग उनको कहते हैं जोकि लौकिक जीवन में दिखाई पड़ते हैं। संसार में जन्म लेना मूल रोग है। क्योंकि जबतक जीव संसार में जन्म लेता रहेगा तबतक तो उसे कभी न कभी कोई न कोई रोग लगेगा ही। रोगों से पूरी निवृत्ति जन्म-मरण के चक्कर से बिल्कुल ही छूट जाने पर होती है। लौकिक रोगों की शान्ति तो यथोचित वस्तु प्राप्त हो जाने पर हो जाती है, किन्तु जो मूल रोग है उसकी शान्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं होती। जीवन की सब आधियां (मानसिक रोग) और व्याधियां (शारीरिक रोग) मूल आधि (अज्ञान) के नाश होने पर ऐसे नष्ट हो जाती हैं जैसेकि नदी के किनारे उत्पन्न होने वाली बेलें वर्षा ऋतु में नदी की बाढ़ से नष्ट हो जाती हैं।

जीवन को सुखी और नीरोग रखने का उपाय:—

"मैं शरीर हूँ" इस प्रकार की भावना से रहित होने पर जीव को शरीर के गुणों का अपने में अनुभव नहीं होता। मन जिस बात का दृढ़ निश्चय कर लेता है वही होती है, उसे टालने वाला और कोई नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब-मणि पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब किसी साधन से नहीं मिट सकता उसी प्रकार मन ने जो अपने लिये निश्चित कर लिया है वह भाव, द्रव्य, औषधि और दण्ड आदि किसी अन्य साधन से नहीं दूर किया जा सकता (मन के निश्चय का इतना महत्व है)। यदि कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अटल धैर्य को धारण करके स्थिर रहे तो उसके पास दुःख नहीं फटक सकते। ऐसे पुरुष के मन को आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शरीर के रोग), शाप और कुदृष्टि (बुरी नज़र) आदि कुछ भी इस प्रकार हानि नहीं पहुँचा सकता जैसे कमल-दंड से पीटने से पर्वत को कुछ नहीं होता। वसिष्ठ जी ने जब काकभुशुण्डि मुनि से यह पूछा कि आप इतने दीर्घ काल से इतने नीरोगी और युवा कैसे बने रहते हैं ? तो उन्होंने जो उत्तर दिया वह यह है: —मैं सदा नीरोगी इस वजह से रहता हूं कि इष्ट और अनिष्ट के होने और न होने की चिन्ता को त्याग कर मैं आत्मभाव में स्थित रहता हूं; आज

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मैं अमुक वस्त को प्राप्त करूंगा, इस प्रकार की चिन्ता मुझे नहीं होती; मेरा मन चपलता और शोक से रहित शान्त और समाहित (स्थिर) है। आज मुझे क्या प्राप्त हुआ है और कल क्या होगा, इस प्रकार की चिन्ता के ज्वर से मैं पीड़ित नहीं हूं, बुढ़ापे और मौत के दुःख से मुझे डर नहीं है, और राज्य आदि के सुख मिलने से मुझे कोई खुशी नहीं होती। यह बन्धु है, यह शत्रु है, यह मेरा है यह दूसरे का, इस प्रकार का भेद-भाव मेरे मन में नहीं है। आहार-विहार में, उठते बैठते, सांस लेते और सोते किसी समय भी मुझे यह ख्याल नहीं होता कि मैं देह हूं। अपने स्वरूप से विचलित न होने वाली शक्ति तथा मधुर और प्रेमयुक्त दृष्टि से युक्त होकर मैं सबको समता से देखता हूं। जो कुछ मैं करता हूं अथवा जिस वस्तु का मैं भोग करता हूं उसमें से अभिमान त्याग कर सब कुछ करता हुआ भी मैं मन में निष्क्रिय ही रहता हूं। मैं समर्थ होने पर भी किसी पर आक्रमण नहीं करता, दूसरों से दुःख दिये जाने पर भी मैं खिन्न नहीं होता, धनहीन होने पर भी मैं किसी से कुछ पाने की इच्छा नहीं करता, जीर्ण, टूटी हुई, शिथिल अंगवाली, क्षीण, क्षोभयुक्त, संचूर्णित, और नष्ट-प्राय वस्तुओं में भी मुझे नवीनता का आनन्द आता है; दूसरों को सुखी देखकर मैं सुखी होता हूं; दुःखी देखकर दुःखी होता हूं, और सब का मैं प्रिय मित्र हूं; आपत्ति आने पर मैं अचल और धैर्ययुक्त रहता हूँ, और सम्पत्ति की दशा में सारे जगत् के साथ मित्रता का व्यवहार करता हूँ; भाव और अभाव में मैं सर्वदा एक समान रहता हूँ।

मन के शान्त और महान होने पर ही सब ओर आनन्द का अनुभव होता है:-

मन सब कुछ है, मन की अपने भीतर ही चिकित्सा करने से सारा संसार ठीक हो जाता है। अपने भीतर ही यदि शान्ति प्राप्त हो गई तो सारा संसार शान्त दिखाई पड़ने लगता है। जो अपने भीतर ही तृष्णा की आग से जल रहा हो उसके लिए सारे संसार में आग सी लगी रहती है। चित्त को महान् बनाने से जो फल प्राप्त होता है वह न तीनों लोक (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) के ऊपर राज्य करने से, न रत्नों से भरे हुए खज़ाने के मिलने से होता है। मन के पूर्ण होने पर सारा संसार अमृत से भरपूर दिखाई पड़ता है, जैसेकि जूता पहने हुए पुरुष के लिए समस्त पृथ्वी चमड़े से ढँकी हुई सी प्रतीत होती है।

शुद्ध मन में ही आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है:-

यद्यपि आकाश सब जगह मौजूद है तो भी उसका प्रतिबिम्ब केवल शीशे में ही पड़ता है। ऐसे ही यद्यपि आत्मा सब जगह वर्तमान है तो भी उसका दर्शन केवल मन के भीतर ही होता है। आत्मा यद्यपि आकाश, पत्थर और दीवार आदि सब ही वस्तुओं में वर्तमान है तो भी जैसे केवल शीशे में ही वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, आत्मा का दर्शन केवल चित्त में ही होता है। जब चित्त वृत्तिहीन होकर चित्तभाव को त्याग देता है तब अपने भीतर विस्तृत आकार वाली मोक्षमयी आत्मसत्ता का अनुभव करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जब तक मन में अज्ञान है तभी तक जीव संसार रूपी अन्धकार में पड़ा रहता है:-

गड्ढे के कछुवे के समान जब तक अज्ञानी मन आत्मा को भूलकर मूर्खतावश भोगों के मार्गों पर चलता रहता है तब तक संसार रूपी अन्धेरा किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकता, चाहे आग और चन्द्रमा सहित बारहों सूर्य भी अपना प्रकाश कर लें।

मन जगद्रूपी पहिये की नाभि है:-

इस भ्रम पैदा करने वाले, घूमने वाले, संसार रूपी मायाचक्र की नाभि चित्त है। इस नाभि को बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा जोर से पकड़ कर रोक लेने से मायाचक्र की गति रुक जाती है।

मनोयोग द्वारा सिद्धियां:-

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार मनुष्य के भीतर अनन्त और अद्भुत शक्ति वर्तमान है, केवल उसके उपयोग करने की ही कमी है। प्रायः हम अपनी शक्ति का उपयोग बिना जाने ही करते हैं। यदि जानकर और समझ-बूझ कर हम अपनी ईश्वरीय शक्ति का उपयोग करें तो जो चाहे सो प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य का मन शक्ति का भण्डार है क्योंकि वह ब्रह्म का ही एक आकार है। मन को जितना शुद्ध किया जाए वह उतना ही बलवान् और शक्तिशाली होता चला जाता है। योगवासिष्ठ में सिद्धियों के प्राप्त करने के दो विशेष मार्ग हैं। एक मन की शुद्धि और दूसरा कुण्डलिनि शक्ति का उद्बोधन। यहाँ हम,मन की शुद्धि द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमें से कुछ का वर्णन करते हैं।

मन की शुद्धि द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियां:-

शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह अवश्य ही जल्द ही वैसी ही हो जाती है, जैसे जल भँवर का रूप धारण कर लेता है।

दूसरों के मन का ज्ञान:—

अशुद्ध मन शक्तिहीन होता है। वह दूसरे मन के साथ संगम करने में अशक्त होता है। शुद्ध और गरम किया हुआ लोहा ही दूसरे शुद्ध और तप्त लोहे में मिल सकता है। जैसे समान रूप वाले जल ही आपस में मिलकर एक होते हैं उसी प्रकार शुद्ध मनों में ही परस्पर एकता हो सकती है।

सूक्ष्म लोकों में प्रवेश करने की सिद्धि:-

जैसे छाया का धूप में प्रवेश नहीं हो सकता वैसे ही वे लोग, जिनकी बुद्धि में जागृति नहीं हुई, पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले सिद्ध लोकों में अपने शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकते। दूसरे लोक में प्रवेश पवित्र शरीर, ज्ञान और विवेक, पवित्र कर्म अथवा वर द्वारा होता है। इसलिए आतिवाहिक (सूक्ष्म) लोकों में उन्हीं लोगों का प्रवेश होता है जो या तो ज्ञानी (अर्थात् जो जानने योग्य सब तत्वों को जानते हैं) हों या जिनका जीवन पूर्णतया धार्मिक हो। जो जीव प्रबुद्ध होकर सूक्ष्म भाव को प्राप्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो चुके हैं वे ही उन दूसरे जीवों से मिल सकते हैं जो कि सिद्ध होकर दूसरे लोकों में जन्म ले चुके हैं। जब सूक्ष्मतत्वों का ज्ञान पूर्णतया स्थिर हो जाता है तब मनुष्य को संकल्प-रहित पवित्र सिद्ध लोकों का दर्शन होता है।

आधिभौतिकता की भावना के कारण जीव को सूक्ष्म लोकों का दर्शन नहीं होता:-

जिसके मन में यह भ्रम दृढ़ हो गया है कि मैं आधिभौतिक (स्थूल) शरीर हूँ वह भला सूक्ष्म मार्ग द्वारा दूसरे लोकों में कैसे जा सकता है? जिसके मन में इस प्रकार की भावना दृढ़ हो गई है कि मैं भौतिक शरीर हूँ और मेरा गमन आकाश द्वारा नहीं हो सकता उसको भला यह कैसे विश्वास हो सकता है कि वह सूक्ष्म देह है और वह आकाश मार्ग द्वारा जा सकता है, जबकि मनुष्य अपने ही संकल्प-जगत् में अपने स्थूल शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकता तो भला दूसरों के संकल्प जगत् में उसका स्थूल शरीर द्वारा कैसे प्रवेश हो सकता है?

सूक्ष्म भाव ग्रहण करने की युक्ति:-

आधिभौतिक (स्थूल) भावना के त्याग देने पर आतिवाहिक (सूक्ष्म) भावना का उदय होता है। तब भारीपन और कड़ेपन का झूठा विश्वास इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसेकि स्वप्न से अच्छी तरह जागने पर स्वप्न की वस्तुओं की स्थूल भावना का अन्त हो जाता है। हल्केपन और सूक्ष्मता की भावना का तब योगी में ऐसे उदय हो जाता है जैसे स्वप्न में यह जान लेने पर कि यह स्वप्न है। जैसे स्वप्न को स्वप्न समझ लेने पर शरीर सूक्ष्म मालूम पड़ने लगता है वैसे ही ज्ञान प्राप्त होने पर स्थूल शरीर भी हलका मालूम पड़ने लगता है। जिस ज्ञानी के हृदय में सूक्ष्म भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है उसके लिये आधिभौतिक (स्थूल) भावना का ऐसे अन्त हो जाता है जैसे सर्दी के मौसम का बादल देखते देखते नष्ट हो जाता है। जैसे गर्भ की अवस्था की यौवन काल में याद नहीं रहती उसी प्रकार जिसके मन में यह भावना दृढ़ हो गई है कि मैं सूक्ष्म हूँ वह अपने स्थूल भाव (स्थूल शरीर) को बिल्कुल भूल जाता है। वासनाओं के क्षीण होने पर अवश्य ही शरीर में सूक्ष्मभाव का उदय हो जाता है। जैसे यह जान लेने पर कि वास्तव में यह रस्सी है, सर्प नहीं है, सर्प दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही यह जान लेने पर कि हमारा शरीर वास्तव में सूक्ष्म है, स्थूल शरीर का अनुभव नहीं रहता। जैसे स्वप्न में अनुभव में आने वाले कल्पना के शरीर की भावना का अन्त होते ही जागने पर स्थूल शरीर की भावना का उदय हो जाता है वैसे ही जाग्रत भावना के अन्त होने पर स्थूल शरीर की भावना का नाश हो जाता है। जैसे गर्मी पाकर बर्फ पानी हो जाता है वैसे ही सूक्ष्म वासनाओं वाला और शुद्ध भाव को प्राप्त हुआ मन भी सूक्ष्म हो जाता है। संसार के पदार्थों की वासनाओं के कम हो जाने पर ज्ञान और अभ्यास द्वारा स्थूल शरीर में ही सूक्ष्म शरीर के अनुभव का उदय हो जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान द्वारा स्थूल भावना की निवृत्तिः—

जैसे बालक को भूत दिखाई पड़ता है वैसे ही मूर्ख जीव को भी शरीर न होते हुए भी संकल्प के भ्रम से यह स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है। जब ज्ञान के दीपक से चारों ओर चान्दनी फैल जाती है तब जीव का संकल्प-मोह शरदृतु के बादल की नाईं क्षीण हो जाता है। जैसे तेल के ख़त्म हो जाने पर दीपक बुझ जाता है वैसे ही संकल्पों के क्षीण हो जाने पर स्थूल शरीर का अनुभव क्षीण हो जाता है। निद्रा के ख़त्म हो जाने पर जैसे जीव को स्वप्न दिखाई नहीं देते वैसे ही सत्य की भावना के उदय होने पर जीव को शरीर का अनुभव नहीं रहता। असत्य में सत्य की भावना होने से जीव स्थूल शरीर से घिरा हुआ है। एक तत्व की भावना के दृढ़ हो जाने पर जीव शरीर से मुक्त और सुखी हो जाता है। शरीर को सत्य समझने से ही शरीर सत्य मालूम पड़ता है, इसको असत्य जान लेने पर इसका अनुभव नहीं रहता।

(इ) मनोनिरोध

योग या व्यावहारिक मनोविज्ञानः—

मन के स्वरूप और शक्तियों को जान लेने पर अवश्य ही यह प्रश्न उठता है कि मन का किस प्रकार शोधन, नियंत्रण, संयम और निरोध किया जाये ताकि प्राणी उत्तम से उत्तम स्वास्थ्य, शक्ति और गति को प्राप्त कर सके। इस विद्या का नाम भारत में योग है। पतंजलि ने अपने योग-सूत्र नामक ग्रन्थ में कहा है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" अर्थात् योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं। योग को भारत का व्यावहारिक (प्रयुक्त) मनोविज्ञान कह सकते हैं। योगवासिष्ठ में योग का उद्देश्य (निष्ठा) अपने परमात्मरूप में स्थिति प्राप्त कर लेना है: "जीव की परमात्मा में उस प्रकार की स्थिति, जिसका नाम तुर्या है, जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के बीज से रहित है, जो चिति और आनन्द का अनुभव है, और परमज्ञान और आनन्द है, वही योग का परम उद्देश्य है"।

तीन प्रकार के योगाभ्यासः—

योगवासिष्ठकार ने योगाभ्यास के तीन मार्ग बतलाये हैं: "एक तत्व का गहरा अभ्यास, प्राणों का निरोध, और मन का निग्रह। इन तीनों में से किसी एक का अभ्यास हो जाने पर तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। इन प्रयोगों में मन को शान्त करना सबसे उत्तम है; इसके सिद्ध हो जाने पर शीघ्र ही कल्याण होता है।"

मनोनिरोध का महत्वः—

सब उपद्रवों के पैदा करने वाले संसार रूपी दुःख से छूटने का एक ही उपाय है, वह है अपने मन का निग्रह। मन के शान्त होने से सब दुःखों की शान्ति हो जाती है और सर्वगत, शान्त ब्रह्म का अनुभव होने लगता है।

मन कैसे स्थूल होता हैः—

अनात्म में आत्मभाव से, देह में विश्वास से, स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब से, अहंकार के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विकार से, ममता के मल से, 'यह मेरा है' इस भाव से, व्यर्थ वृद्धि को प्राप्त होने वाले दोषों के कोश तथा जरा और मरण आदि देने वाले दुःखों से, उपादेय (प्राप्त करने योग्य) और हेय (त्यागने योग्य) को प्राप्त करने और त्यागने का प्रयत्न करने से, आधि और व्याधियों को प्राप्त कराने वाली संसार की आशाओं से, स्नेह से, धन के लोभ से, दूर से सुन्दर दिखाई देने वाली मणि और स्त्रियों की प्राप्ति से, चित्त स्थूल होता है। दुराशा रूपी दूध के पीने से, भोग रूपी वायु के बल से, आस्था रूपी चारे से, चित्त रूपी सर्प मोटा होता है। उत्पत्ति और नाश वाले शरीर से विष के समान दुःखदायी भोगों के भोगने से चित्त स्थूल होता है।

मन किस प्रकार ब्रह्म हो जाता है:-

परम ब्रह्म में चित्त को लगाने से चित्त वासना-रहित और शुद्ध हो जाता है। शुद्ध और वासना-रहित होने पर वह कल्पनाशून्य होकर आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है। विचार द्वारा मन विलीन हो जाता है और मन के लय हो जाने पर ही कल्याण होता है। 'मन' नाम वाले उस कर्म के क्षीण होने पर, जिसनेकि इस भ्रम को रच रक्खा है, प्राणी जीवन्मुक्त हो जाता है, फिर उसका दूसरा जन्म नहीं होता। ज्ञानियों का मन ब्रह्म ही है और कुछ नहीं, जैसे जलमात्र पर दृष्टि रखने वालों के लिये समुद्र ही समुद्र है, तरंग कोई वस्तु नहीं है।

मन का निरोध करने की युक्तियां:-

जैसे मतवाला दुष्ट हाथी बिना अंकुश के नहीं जीता जा सकता वैसे ही मन भी विना-ठीक युक्ति के नहीं जीता जा सकता। जो उचित युक्ति को छोड़ कर मन को जीतने का उपाय करते हैं वे हठी हैं, उनको एक भय के पीछे दूसरा भय और एक दुःख के बाद दूसरा दुःख होता रहता है। जो (बिना युक्ति के) बलपूर्वक चित्त को जीतने का प्रयत्न करते हैं वे मूर्ख उस व्यक्ति के समान हैं जोकि उन्मत्त हाथी को कमल के तन्तुओं से बाँधना चाहता है। चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की निश्चित युक्तियां हैं। अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का सत्संग, वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध। अपने ही ज्ञान और पुरुषार्थ द्वारा चित्त जितनी अच्छी तरह शान्त हो जाता है वैसा न तप से, न तीर्थ से, न विद्या से, न यज्ञ से और न किसी विशेष अनुष्ठान से हो सकता है।

ज्ञानयुक्ति:-

जो वस्तु अज्ञान के कारण सत्य प्रतीत होती हो वह अवश्य ही ज्ञान से नष्ट हो जाती है। अहंकार वैसे ही मिथ्या है जैसे मिथ्या ज्ञान। 'मन मेरा असली स्वरूप नहीं है, बनावटी (झूठा) रूप है इसलिये मैं मन नहीं हूँ' इस प्रकार मन को त्याग देने पर मन शान्त और सनातन ब्रह्म हो जाता है।

संकल्पों का उच्छेदन:-

संकल्प ही मन का बन्धन है, उसका अभाव ही मुक्तता है। संकल्प रहित होने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से मोक्ष का अनुभव होने लगता है।

भोगों से विरक्ति:–

और शास्त्रोक्त साधनों से क्या प्रयोजन है? केवल इतना कहना ही काफ़ी है कि जो जो वस्तुएं स्वाद देने वाली हैं उन सबको विष और अग्नि के समान भयंकर समझो। संसार रूपी गड्ढे में पड़े हुये प्राणी तभी तक भ्रमते रहते हैं जबतक कि उन्हें विषयों के प्रति विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। विषयों से विरक्ति की उत्पत्ति आत्मचिन्तन से हृदय में उत्पन्न हो कर कमल के फूल की शोभा की नाईं प्रकाश पाती है।

इन्द्रियों का निग्रह:–

जो विवेक वाला और उदार आत्मा है उसे जितेन्द्रिय कहते हैं–वह संसार–समुद्र में वासना रूपी लहरों के बीच में पड़कर नहीं घबराता। जैसे राजा की आज्ञा का मंत्री लोग पालन करते हैं वैसे ही जो मन का निश्चय होता है उसी को इन्द्रियों की वृत्तियां सम्पादन करती हैं। इसलिये जो संसार के विषयों में मन को नहीं लगाते और अपने भीतर विवेक प्राप्ति का यत्न करते रहते हैं वे शान्ति का अनुभव करते हैं।

वासनाओं का त्याग:–

वासना ही चित्त का स्वरूप है। वासना और चित्त दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे 'यह स्वप्न है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर स्वप्न का शरीर असत्य मालूम पड़ने लगता है वैसे ही वासनाओं के क्षीण हो जाने पर अनुभव में आने वाला संसार भी असत् ही दिखाई पड़ने लगता है। 'यह वस्तु मेरी हो जाए' इस प्रकार की अपने भीतर की भावना को तृष्णा कहते हैं, यही सबसे बड़ी जंजीर है। सब सत् और असत् पदार्थों के प्रति इस प्रकार की वासना का पूर्णतया और सदा के लिये त्याग करके महामना और उदारात्मा पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेता है।

अहंकार का त्याग:–

अहंभाव के अभाव से शान्तिपूर्ण स्वभाव में स्थिति हो जाती है। आकाश की नीलिमा के समान भ्रमात्मक संसार का आदिमूल अहंभावयुक्त आत्मा है। यह जगत् रूपी वृक्ष अहंभाव रूपी बीज से उदय होता है। उसको ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म कर देने पर फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता।

असंग का अभ्यास:–

मन को चाहिये कि वह संसार की सब वस्तुओं के प्रति नीरस होकर आत्मा के रस में ही मग्न होकर चिति में विश्राम ले। वहां स्थित होकर और सब प्रकार के संग से मुक्त होकर जीव जब अजीव हो जाता है तब वह संसार के किसी व्यवहार को करे या न करे। असंसक्त उसे कहते हैं जो इतने समान भाव में स्थित रहे कि न उसके लिये कर्म करना श्रेष्ठ हो और न कर्मों में लगना, और जिसने सब कर्मों के फल का त्याग कर दिया हो। यह सब कुछ आत्मदेव ही है, किस वस्तु की इच्छा करूं और किस वस्तु का त्याग करूं। इस प्रकार की असंसक्ति जीवन्मुक्त पुरुष में होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सब कर्मों के फलों को मन से ही, नकि कर्म से, पूर्णतया त्यागने वाले को, असंसक्त कहते हैं। पदार्थों के भाव और अभाव में हर्ष और शोक रूपी मलीन वासना होने का नाम संग है। जब हर्ष और शोक से रहित होकर वासना शुद्ध हो जाती है तो उसे शरीर के जीवित रहने तक असंग कहते हैं। शुभ या अशुभ कामों को करते हुए मन का उनमें लिप्त न होना असंग कहलाता है।

समभाव का अभ्यासः–

हेय (त्याज्य) वस्त से खेद न करो और उपादेय (प्राप्य) वस्तु से संग न करो। 'हेय' और 'उपादेय' दोनों दृष्टियों का त्याग करके दोनों से रहित भाव में निर्मल रहो। जैसे, जबतक बादल नहीं उड़ता तबतक आकाश में चाँदनी नहीं दिखाई पड़ती, ऐसे ही जबतक चित्त से हेय और उपादेय भाव नहीं जाता तबतक समता का उदय नहीं होता।

कर्तृत्व का त्यागः–

जैसे स्याही के खतम हो जाने पर कालस स्वयं ही खतम हो जाती है ऐसे ही स्पन्दनरूप कर्म (कर्तृत्वभाव) के क्षीण होने पर मन स्वयं ही क्षीण हो जाता है। चित्त और कर्तृत्व दोनों आग और गरमी की नाईं सम्बद्ध हैं, दोनों में से किसी एक का अभाव हो जाने पर दोनों का अभाव हो जाता है। आत्मा के अज्ञान से कर्म करने का संकल्प–युक्त होना ही बन्धन का कारण है, उसको अवश्य त्यागो। कर्मत्याग तब होता है जबकि आत्मा में से संवेदन और संवेद्य (ज्ञान और विषय) की भावना निकल जाने पर वासना न रहे, और कल्पनारहित शान्त भाव में उसकी स्थिति हो जाए।

सब वस्तुओं का त्यागः–

सब वस्तुओं का जबतक त्याग नहीं किया जाता तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। सब अवस्थाओं का त्याग करने पर जो बाकी रहता है वही आत्मा है। जो और सब कामों को छोड़ अपनी पूरी ताकत से आत्मा को प्राप्त करने का यत्न करता है वही आत्मा को पाता है, दूसरा कोई नहीं। जो और किसी वस्तु को प्राप्त नहीं करता वही इस परम अमृत आत्मा को पूर्णतया प्राप्त करके सब कुछ पा लेता है।

समाधिः–

यदि निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाये तो अक्षय सुषुप्ति के समान शुद्ध पद की प्राप्ति हो जाती है।

समाधि का सच्चा स्वरूपः— पदम आसन लगाकर बैठ जाने और ब्रह्म को हाथ जोड़ कर बैठ जाने पर भी, जबतक कि मन में शान्ति नहीं, समाधि नहीं लगती। चुपचाप बैठे रहने का नाम समाधि नहीं है। सब आशा (इच्छा) रूप तिनकों को जलाने वाले अग्निरूप तत्वज्ञान को समाधि कहते हैं। समाधि नाम है उस परम प्रज्ञा का जो स्थिर है, नित्य तृप्त है, और यथार्थ तत्त्व का ज्ञान देने वाली है। सुमेरू के समान उस स्थिर स्थिति का नाम समाधि है जिसमें चंचलता नहीं, अहंकार नहीं, और जिसमें द्वन्द्वों की भावनाएँ नहीं हैं। मन की उस पूर्ण अवस्था का नाम समाधि है जिसमें कोई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चिन्ता नहीं, जिसमें सब इच्छाओं की पूर्ति हो चुकी है और जिसमें हेय और उपादेय की दृष्टि नहीं है। महात्माओं की समाधि उसी समय से आरम्भ हो जाती है जबसे कि ज्ञान द्वारा मन पूर्णरूप से स्थिर हो जाय। विषयों में बिल्कुल भी तृष्णा न होने का नाम समाधि है, विषयों के प्रति दृढ़ विरक्ति होने का नाम ध्यान है। समाधि और कुछ नहीं है केवल ज्ञान द्वारा मन में विषयों के प्रति विरक्ति और चारों ओर शीतलता का अनुभव है। ऐसा ध्यान ही, जिसमें सत्य ज्ञान हो, शान्ति हो, और वासनाओं का लेश भी न हो, आनन्द पद वाला निर्वाण होता है।

मन में लीन होने का आनन्दः—

चित्त रूपी वेताल के शान्त हो जाने पर जो आनन्द अनुभव में आता है वह सारे जगत् का राज्य प्राप्त होने पर भी नहीं प्राप्त होता। सब आशाओं के ज्वर और सम्मोह रूपी बरसात को दूर करने के लिये शरदृतु के आगमन रूप चित्तनाश के सिवाय और कोई कल्याणकारी वस्तु नहीं है। वे ही महामना, शान्त बुद्धि वाले लोग सुख भोग की सीमा पर पहुँच जाते हैं जो मन को मार लेते हैं। चित्तरूपी ताम्बे को शोध कर परमार्थ रूपी सोना बनाकर सच्चा आनन्द मिलता है, शरीर रूपी पत्थरों से नहीं।

सन्दर्भ ग्रन्थः—

१. योगवासिष्ठ महारामायण, भाग १ और २।
२. आत्रेयः श्री वासिष्ठ दर्शन।
३ आत्रेयः योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त।
4. Atreya: The Philosophy of Yogavasistha.
5. Atreya: Yogavasistha and Its Philosophy.
6. Atreya: Yogavasistha and Modern Thought.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

II

महाभारत में
अन्तःकरण का स्थान और व्यापार

वि. मि. बेडेकर

महाभारत महाकाव्य के रूप में जैसा एक महान् इतिहास है वैसा ही वह 'धर्मशास्त्र', 'अध्यात्मशास्त्र', 'मोक्षशास्त्र' आदि का महान् ग्रंथ भी है। महाभारत के दर्शन विषयक विभागों में विश्वोत्पत्तिशास्त्र, विश्व-रचनाशास्त्र, आत्मा का स्वरूप, मनोविज्ञान, बंध और मोक्ष, वैयक्तिक और सामाजिक नीतिशास्त्र इत्यादि विषयों पर मूलग्राही विवेचन मिलता है। विशेषतः इन तत्वज्ञानात्मक विभागों में शांतिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व यह एक बृहत्तम विभाग है जो केवल उपरिनिर्दिष्ट तत्वज्ञानविषयक विचारों से ही भरा हुआ है। इस पर्व में युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर देने के निमित्त से महान् तत्वज्ञ पितामह शांतनव भीष्म ने मानो विविध ज्ञान का भण्डार खोल दिया है। हर तात्विक विचारों का निरूपण करते समय भीष्म जी हर बार युधिष्ठिर को कहते हैं: "देखो, मैं इस संबंध में 'पुरातन इतिहास' कहूँगा"। यह 'पुरातन इतिहास' देखा जाय तो प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जो धर्मविषयक और दर्शन विषयक मूलग्राही और सूक्ष्म विचार प्राचीन काल में अपने शिष्यों के लिए प्रकट किये थे उनका कथन ही यह 'पुरातन इतिहास' है। इन सब विचारों का मूल में अध्ययन किया जाय तो उन में इतनी विविधता, भिन्नता और समृद्धता दिखाई देती है कि पाठकों का मन आश्चर्यचकित हो उठता है। दर्शन, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र इत्यादि विषयों पर प्राचीन ऋषियों के जो विचार संगृहीत कर युधिष्ठिर के (और पाठकों के) सामने भीष्म जी ने पेश किये हैं उनकी समृद्ध विविधता देखने पर ऐसा अनुमान अपरिहार्य होता है कि जिस युग में ऐसे महान् विचारक दार्शनिक विषयों में भिन्न भिन्न मत प्रकट किया करते थे वह युग तो महान् जागृति का युग या अत्यन्त सजीव विचारों का युग होना चाहिये। महाभारत में, विशेषतः मोक्ष-धर्म पर्व में, जो दर्शन विषयक भिन्न भिन्न मत उपलब्ध होते हैं उनका अध्ययन करने वाले संशोधकों की ऐसी राय है कि, जो उत्तर काल में भारतीय दार्शनिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार सांख्य, योग, वैशेषिक, वेदान्त इत्यादि दर्शनों के रूप में विकसित हुए, उनका प्राथमिक रूप महाभारत में अवश्य उपलब्ध होता है। इसलिये भारत के दर्शनान्तर्गत विचारों के क्रमबद्ध इतिहास का जो अध्ययन करना चाहते हैं उनकी दृष्टि से महाभारतान्तर्गत, विशेषतः मोक्षधर्मान्तर्गत विचारों का महत्व असीम है। इस दृष्टि से ही प्रस्तुत निन्वध में, भारतीय 'मनोविज्ञान' का कोनसा पूर्व रूप महाभारतान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व में से उपलब्ध होता है, यह निश्चित करने का अल्प प्रयत्न किया गया है।

मोक्षधर्म में भारतीय मनोविज्ञान का जो पूर्व रूप मिलता है वह भारतीय दर्शनान्तर्गत 'मनोविज्ञान' के स्वरूप से किस तरह विभिन्न है यह जानने के लिये पहले प्रमुख भारतीय दर्शनों में 'मनोविज्ञान' का जो परिनिष्पन्न विचार उपलब्ध है, उसका यहाँ संक्षेपतः उल्लेख करना उचित होगा। भारतीय दर्शनों में मानसिक व्यापारों की परिपाटी का सविस्तर विचार विमर्श करने वाले सांख्य और वेदान्त ये दो प्रमुख दर्शन हैं। सांख्य दर्शन में मानसिक व्यापारों की समग्र आलोचना और सुसूत्र रचना त्रिविध अन्तः-करण में की गयी है। इस त्रिविधि अन्तःकरण का वर्णन सांख्य दर्शन में इस प्रकार है[1]—

(१) शरीर के अभ्यन्तर मानसिक व्यापार करने वाले 'अन्तःकरणों' में पहला और श्रेष्ठ स्थान बुद्धि का है। प्रकृति से उद्भूत होनेवाला प्रथम सृष्टि या महान् बुद्धि है। बुद्धि का असाधारण व्यापार 'अध्यवसाय' या 'विनिश्चय करना' है। बुद्धि का सात्विक रूप धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य इनमें प्रकट होता है और तामस रूप इनके विपरीत धर्मों अधर्म, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य— में व्यक्त होता है।

(२) दूसरा 'अन्तःकरण' अहंकार नामक है जो बुद्धि तत्व से आविर्भूत होता है। उसका विशिष्ट व्यापार है 'अभिमान'। ज्ञानेन्द्रियों ने जो कुछ 'आलोचन' किया है उस पर मन संकल्प करता है। 'यह आलोचन और संकल्प करने वाला मैं ही हूँ', यह अभिमान का स्वरूप है।

(३) अन्तःकरणों में तीसरा और आखिरी स्थान है मन का। मन अहंकार का सात्विक प्रादुर्भाव है। मन का विशिष्ट व्यापार संकल्प करना है।

उपरिनिर्दिष्ट वर्णन से विदित होता है कि सांख्यदर्शन तीन अन्तःकरणों की प्रचीयमान श्रेणियां मानता है:— पहला है मन, उससे उच्चतर अहंकार और उससे उच्चतम है बुद्धि। ज्ञानप्रक्रिया यह एक क्रमशः वर्धमान होनेवाली अर्थज्ञान प्रक्रिया निर्धारित की गयी है (The process of knowledge is viewed as a growing sense of meaning)—पहिली इन्द्रिय संवेदना और आखिरी विनिश्चय। इस प्रक्रिया (परिपाटी) में व्यक्त होनेवाली ज्ञानप्रक्रिया का विभाजन यहां तीन करणों में किया गया है। इन्द्रियों के आलोचन का संकल्प, या सम्यक् विशेषण–विशेष्य भाव से संकल्प या विवेचन करने वाला मन, इन सव व्यापारों में 'मैं अधिकृत हूं', ऐसा मानने वाला अहंकार और 'आखिर मुझे यह कर्त्तव्य है' ऐसा विनिश्चय करनेवाली बुद्धि, ऐसी यह ज्ञान–प्रक्रिया की चढ़ती श्रेणी है। वेदान्त दर्शन में भी इस प्रकार अन्तःकरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो मूल में एक ही है लेकिन उसकी वृत्ति या व्यापार चतुर्दिक है और इस चतुर्विध प्रत्येक के लिये अन्तःकरण की संज्ञा वेदान्तदर्शन में दी है। इनमें संशयवृत्ति के लिये मन, निश्चयवृत्ति के लिये बुद्धि, गर्व के लिये अहंकार और स्मरण के लिये चित्त संज्ञा है।२

मानसिक व्यापारों का वर्गीकरण, अन्तःकरणों के द्वारा जिन मानसिक व्यापारों का आवेष्टन होता है उनका संज्ञाकरण, सांख्य और वेदान्त दर्शन में उपरिनिर्दिष्ट तरह से मिलता है। मानसिक व्यापारों का सूत्रीकरण, वर्गीकरण और नामकरण, इनका जो दार्शनिक चित्र यहाँ उपलब्ध होता है उसकी तुलना मोक्षधर्मान्तर्गत मनोविज्ञान विषयक विचारों से की जाय तो उनमें महान् भेद दिखाई देता है। मोक्षधर्मपर्व में—

(i) कई ऐसे अध्याय हैं कि जिनमें मन ही एकमेव अन्तःकरण माना गया है। अहंकार और बुद्धि को स्थान ही नहीं दिया गया है।

(ii) कई दूसरे ऐसे अध्याय हैं जिनमें केवल मन और बुद्धि को ही स्थान प्राप्त है। अहंकार का उल्लेख ही नहीं है।

(iii) और भी ऐसे अध्यायसमूह हैं जिनमें तीनों ही अन्तःकरणों का निर्देश है, लेकिन उनका व्यापार या कार्य दार्शनिक-अन्तःकरण के व्यापार और कार्य से भिन्न है, ऐसा उनके वर्णन से प्रतीत होता है।

अन्तःकरण के विचार के विषय में मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों के तीन वर्ग हमने किये हैं। पर उनसे सयुक्तिक अनुमान किया जा सकता है कि मोक्षधर्म पर्व में अन्तः-करणविषयक विचार का मानो स्थूल इतिहास उपलब्ध है और दर्शन के पूर्व काल में अन्तःकरणविषयक विचार कैसा प्रकट और परिणत होता गया इसकी झाँकी यहाँ मिलती है। इस दृष्टि से, मोक्षधर्मपर्वगत अध्यायों के जो तीन वर्ग बतलाये गये हैं उनमें से प्रत्येक वर्ग का किंचित् सविस्तर वर्णन करना और तद्‌गत अन्तःकरणविषयक विचारों पर अधिक ध्यान देना उचित होगा।

I मोक्षधर्मपर्व के अध्यायों के पहले वर्ग में, जिन अध्यायों में मानसिक व्यापारों के लिये मन ही एकमात्र और सर्वोच्च अन्तःकरण माना गया है, नीचे दिये हुए अध्याय३ समाविष्ट हैं— (i) म. भा. १२. १७५–१८०
(ii) ,, ,, १२. २११–२१२
(iii) ,, ,, १२. २२४–२२५

(i) १२. १७५–१८०। इन अध्यायों में शक्ति ने युधिष्ठिर को भृगु-भरद्वाज संवाद कथन किया है। भृगु कहता है—"ज्ञान के लिये मन ही आवश्यक है। मन व्याकुल हो तो ज्ञान नहीं होता।"४ भृगु की दृष्टि से मन इतना श्रेष्ठ तत्व है कि साक्षात् ईश्वर को वे सृष्टि को मन से निर्माण करने वाला 'मानस' (मनोयुक्त) कहते हैं५ और जीव तत्व को शरीरान्तर्गत 'मानस अग्नि' कहते हैं।६

(ii) १२. २११–२१२ इन अध्यायों में पंचशिख-जनक-संवाद का कथन भीष्म ने किया है। पंचशिख मन को श्रेष्ठ अन्तःकरण मानता है और ज्ञान के लिये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मन या चित्त का व्यापार आवश्यक बतलाता है।७ ज्ञानेन्द्रियों के ही नहीं कर्मेन्द्रियों के व्यापार के लिये भी मन आवश्यक है। पंचशिख की दृष्टि से अच्छा विवेचक मन ही ('सम्यङ्मनः') मोक्ष को पहुँचाने वाला 'त्याग शास्त्र' है।८ पंचशिखमुनि क्षेत्रज्ञ या जीव उसी भाव को कहते हैं जो मन में रहता है।९

(iii) १२. २२४-२२५। ये दो अध्याय 'शुकानुप्रश्न' नामक अध्याय समूह के अंतर्गत हैं। 'शुकानुप्रश्न' में व्यास महर्षि अपने पुत्र शुक को अनेक दर्शन विषयक प्रश्नों पर उपदेश करते हैं और ऐसे करते हुए उन्होंने भिन्न भिन्न मतों का निर्देश किया है। 'शुकानुप्रश्न' विभाग का विस्तार अध्याय २२४ से २४७ तक है। इनमें आरम्भ के २२४-२२५ अध्यायों में, मनन ही केवल एकमेव अन्तःकरण है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। सृष्टि का क्रम कहते समय व्यास जी कहते हैं१० "ब्रह्म ने पहले महद् भूत उत्पन्न किया। महद् भूत से व्यग्र स्वरूप मन निर्माण हुआ। मन का स्वभाव है दूर जाना, वह अनेक विषयों की ओर आकृष्ट होता है। उसका व्यापार है इच्छा और संशय। मन ने सृष्टि निर्माण की, इच्छा से प्रेरित होकर आकाश-निर्माण किया। आकाश से वायु, वायु से तेज,तेज से जल और जल से पृथ्वी। महद् भूत से लेकर पृथ्वी तक सात तत्वों को सप्त पुरुष कहते हैं। ये सप्त पुरुष अन्योन्य से मिलकर, अन्योन्य का आश्रय लेकर मानव-शरीर में प्रविष्ट हुए। इन शरीराश्रित सप्त पुरुषों के मिलाप को मानव 'पुरुष' कहते हैं।"

अध्याय २२५ में व्यास जी सृष्टि के प्रलय या प्रतिसंचर को स्पष्ट करते समय कहते हैं कि सृष्टि के विपरीत क्रम (reverse order) से तत्वों का प्रलय होता है। प्रलय-समय में पृथ्वी जल में विलीन होती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में और आकाश मन में विलीन होते हैं। आखिर व्यक्त मन अव्यक्त महद् भूत में विलीन होता है।११ इस प्रलय-क्रम में भी मन ही पहली व्यक्त सृष्टि है और वह महद् भूत से निर्माण होती है, ऐसा दीख पड़ता है।

इस शुकानुप्रश्न विभाग में २३९वें अध्याय में मन ही एक श्रेष्ठ अन्तःकरण है जिसका उपयोग हृदयाश्रित भूतात्मा करता है, ऐसा निर्देश है। आत्मदर्शन चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं होता, केवल प्रकाश-युक्त मन से ही होता है, ऐसा भी वर्णन है।१२

उपरिनिर्दिष्ट तीन अध्याय-समूहों में जो मनोविज्ञान विषयक विचारों की रूपरेखा बतलाई है उससे यह विदित होगा कि इन विचारकों की दृष्टि से मन ही एक अन्तःकरण है जिससे सब मानसिक व्यापार-ज्ञान (Cognition), भावना (feeling) और निश्चयरूप प्रवृत्ति (Willing) किये जाते हैं। भारतीय मनोविज्ञान शास्त्र के विकास के इतिहास की प्राथमिक अवस्था इससे सूचित होती है। इसमें अबतक मानसिक व्यापारों का, जिन करणों से मानसिक व्यापार हुआ करते हैं उन मन, अहंकार आदि का, व्यवस्थित विभाजन, संघटन और नामकरण किया गया है, जो अबतक पूर्व विचारकों द्वारा नहीं हुआ था। मनोविज्ञान के विकास की यह प्राथमिक अवस्था प्राचीन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपनिषदों से भी ज्ञात होती है, जहाँ केवल एक मन का ही अन्तःकरण के रूप से निर्देश उपलब्ध है।[१३] मानव जब दार्शनिक विचार-पथ पर प्रवृत्त होकर अपने मन का विचार करने लगा तब मन की अद्‌भुत शक्ति देखकर वह आश्चर्य-चकित हुआ। उसको प्रतीत हुआ कि जड़ सृष्टि से मानव को अलग कर उसे श्रेष्ठता देने वाली एक ही चीज है और वह है मन। सृष्टि का मूल या सर्वोच्च कारण जो कोई भी शक्ति हो, उसका यथार्थ स्वरूप 'मानस', 'मनोविशिष्ट' या 'चित्स्वरूप' अवश्य होगा, यह सिद्धान्त इस समय उसने प्रस्थापित किया। शास्त्रज्ञों का कहना है कि दर्शन, श्रवण इत्यादि ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं, मन द्वारा ही होता है। यह स्पष्ट प्रतीति जब मानव को होती है तब वह इस प्रतीति के आधार पर मनोविज्ञान शास्त्र की नींव डालता है।[१४] इस दृष्टि से देखा जाय तो उपरिनिर्दिष्ट मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायसमूहों की मनोवैज्ञानिक विचारधारा से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में मनोवैज्ञानिक संशोधन का शुभारंभ मोक्ष-धर्म पर्व में हुआ।

मोक्षधर्म पर्व में अध्याय समूहों का एक ऐसा दूसरा वर्ग है जिसमें दो अन्तः-करणों-बुद्धि और मन-का वर्णन है। इन दोनों में भी बुद्धि उच्चतर और श्रेष्ठ मानी गयी है। मनोविज्ञान के इतिहास में यह दूसरी अवस्था या सोपान अवस्था है। इस अध्याय समूहों में अहंकार का निर्देश नहीं है, यह बात भी इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इन अध्यायों में वर्णित बुद्धि व मन का स्थान और व्यापार यहां संक्षेप में दिये जाते हैं—

(i) अध्याय १८७। इस अध्याय में भीष्म युधिष्ठिर को 'अध्यात्म' का कथन करते हैं। इस अध्याय के विषय को और उसकी संहिता (Text) को प्राचीन काल में बड़ा गौरव और महत्त्व प्राप्त था, क्योंकि इस अध्याय की संहिता (Text) महाभारत में भिन्न भिन्न स्थानों पर मिलती है।

इस अध्याय में बुद्धि और मन के स्थान और व्यापार (functions) का वर्णन किया गया है।[१५] मन ज्ञानेन्द्रियों की पंक्ति में समाविष्ट होकर ज्ञानग्रहण करणों में मदद करता है। वह संकल्प और संशय करता है। बुद्धि अध्यवसाय या निश्चय करती है। जीवात्मा या पुरुष से अधिष्ठित बुद्धि सुख-दुख, असुखदुःख इन भावों का अनुभव करती है। बुद्धि ही स्वयं मन, ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि का रूप लेती है।

(ii) अध्याय १९४-१९९। ये अध्याय मनु-बृहस्पति संवाद कहलाते हैं। मनु बृहस्पति को कहते हैं—इन्द्रियों से उच्चतर और श्रेष्ठ मन है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से सर्वोच्च परब्रह्म। मन ही श्रोत्रादि से युक्त होकर शब्दादि ग्रहण करता है। मन आकांक्षा करता है। बुद्धि का गुण व्यवसाय या निश्चय है। बुद्धि ही स्मरण करती है। बुद्धि ही कार्य के लिये प्रवृत्त करती है। जब कर्मगुणयुक्त बुद्धि मन में विलीन हो जाती है तब ध्यानयोग समाधि से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।[१६]

मनु इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि बुद्धि और मन भी स्वयं कुछ ज्ञान ग्रहण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं कर सकते। वे तो केवल साधनभूत हैं। क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा के वे साधन हैं। आत्मा स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है और वही खुद ज्ञानग्रहण करता है।[१७]

(iii) अध्याय २३८–२४०; २४२; २४४–२४८। ये अध्याय शुकानुप्रश्न संवाद के अन्तर्गत हैं। शुकानुप्रश्न विभाग विविध विषयों से भरा हुआ है और इसमें विभिन्न मतों का निरूपण किया गया है। 'शुकानुप्रश्न' में कई ऐसे अध्याय हैं कि जिनमें 'मन ही एकमेव और श्रेष्ठ अन्तःकरण है' ऐसा वर्णन किया गया है, यह बात हमने पहले ही स्पष्ट कर दी है। और दूसरे कई निर्दिष्ट अध्याय हैं जिनमें बुद्धि और मन इन दो अन्तःकरणों का वर्णन आया है। यही वर्णन हम यहाँ संक्षेप में उपस्थित करते हैं।

व्यास शुक से कहते हैं[१८] "इन्द्रियों से पर अर्थ है, अर्थों से पर मन, मन से परा बुद्धि, बुद्धि से पर महान् आत्मा, महान् आत्मा से पर अव्यक्त और अव्यक्त से वह अमृत ब्रह्म। बुद्धि ही अनेक रूप लेती है। जब वह सुनती है तब श्रोत्र बनती है, जब कुछ अभिलाशा करती है तो मन बनती है। मन संशय करता है और बुद्धि अध्यवसाय या निश्चय करती है।" "मन व्याकरण करता है, पृथक्करण करता है, और बुद्धि निश्चय करती है।"[१९]

व्यास जी ने शुकानुप्रश्न में मन और बुद्धि के स्थान तथा व्यापार पर एक रोचक रूप से प्रकाश डाला है। वे कहते हैं —"शरीर एक नगर है। उसकी स्वामिनी है बुद्धि। मन इस स्वामिनी का अर्थ-सचिव है। इन्द्रिय नागरिक जन है। जिस बात को बुद्धि का अधिष्ठान है वह नाश के पथ पर नहीं जाती। जहाँ मन बुद्धि से अलग होकर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करता है वहाँ नाश होता है; सब शून्य होकर रज से, रजोगुण से (खाक से) भर जाता है।"[२०]

'शुकानुप्रश्न' के इन अध्यायों में एक जगह व्यासजी के कथन में मन और बुद्धि के व्यापारों का सविस्तर वर्गीकरण और वर्णन है। मन के नौ व्यापार या गुण और बुद्धि के पांच माने गये हैं।[२१] इन वर्गीकृत व्यापारों को देखा जाय तो इन पर से तर्क किया जा सकता है कि यह प्राचीन भारतीय विचारकों का मनोविज्ञान विषयक सूक्ष्म विश्लेषण का एक महन् प्रयत्न है और उसका मनोविज्ञान के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(iv) अध्याय ३०८। यह अध्याय सुलभा–जनक संवाद नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में सुविख्यात संन्यासिनी सुलभा जनक राजा के साथ चर्चा करती हुई अपने दर्शन का परिचय देती है। मानव और उसका विश्व के साथ संबंध, इनका पृथक्करण सुलभा ने तीस कलाओं या तत्त्वों (त्रिंशत्कला समूह) में किया है। इन तीस कलाओं में मन एकादशी कला या गुण और बुद्धि द्वादशी कला या गुण गिनी गयी है। साधु और असाधु, अच्छा और बुरा, इसमें पृथक्करण करते समय संशय करना, यह मन का व्यापार है। बौद्धिक या ज्ञातव्य के बारे में मन ने जो संशय प्रकट किया है उस पर निर्णय करके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निश्चय करना यह बुद्धि का काम यहाँ बतलाया गया है।२२

(v) अध्याय २६७। इस अध्याय को असितदेवल–नारद संवाद कहते हैं। इसमें असितदेवल ने, शरीरी आत्मा किन तत्वों से बना हुआ है, इसका निरूपण किया है। इन तत्वों में चित्त, मन और बुद्धि इन तीन अन्तःकरणों का अन्तर्भाव है। मानव जो ज्ञान ग्रहण करता है वह क्रमशः प्रचीयमान ऐसी त्रिविध सोपान परम्परा से चढ़ती तीन पोड़ियों की श्रेणी है जिनमें पहला चिन्ता,दूसरा मन और तीसरा बुद्धि है। मन से पहला चिन्ता एक और सोपान माना गया है, यह असितदेवल के तत्वकथन में विशेषता है। चित्त, मन और बुद्धि इन तीन अन्तःकरणों के व्यापारों का वर्णन असित-देवल ने ऐसा किया है: "पहले चित्त से मानव ज्ञानेन्द्रिय द्वारा प्राप्त विषयों का पृथक् ग्रहण करता है (चेतयते)। पश्चात् मन से उसपर विचार करता है। पांच ज्ञाने-न्द्रिय, चित्त, मन और बुद्धि ये आठ आत्मा के ज्ञानेन्द्रिय हैं, ऐसी अध्यात्मचिंतकों की राय है।"२३ साधारण मन के व्यापार में इन्द्रिय द्वारा प्राप्त विषयों का निर्विकल्प ग्रहण और उन पर संकल्प इन दोनों का समावेश होता है। असित देवल ने यहां अधिक स्फुटता के लिये इन दोनों व्यापारों का विभाजन दो अन्तःकरणों में—इन्द्रिय द्वारा प्राप्त विषयों को निर्विकल्प ग्रहण करने वाला चित्त और उनपर संकल्प, विकल्प करने वाला मन इन दोनों में किया है, ऐसा अनुमान हो सकता है। असितदेवल के विचारों में और भी एक स्फुट विशेषता पायी जाती है। चित्त, मन और बुद्धि ये सब ज्ञाने-न्द्रियों की पंक्ति में ही हैं, ये ज्ञानेन्द्रिय शरीरी जीवात्मा के ज्ञानसाधन हैं, इनके द्वारा शरीरी आत्मा बाह्य विश्व का ज्ञान से ग्रहण करता है, यह स्फुटतया बताकर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के कारण या इन्द्रिय इस त्रिपुटी का अत्यंत रोचक और स्पष्ट विधान असित-देवल के संवाद में किया गया है।

(ii) मोक्षधर्म पर्व में अध्यायसमूहों का एक तीसरा वर्ग है जिसमें बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों ही अन्तःकरणों का निर्देश है। सांख्य दर्शनान्तर्गत त्रिविध अन्तः-करण के सदृश यह निर्देश है, लेकिन इन दोनों में कुछ फर्क भी दिखाई देता है। यह फर्क नीचे स्पष्ट हो जायेगा। त्रिविध अन्तःकरण का निर्देश करने वाले अध्याय-समूह इस प्रकार हैं:

(i) अध्याय २०३–२१०। यह अध्यायसमूह 'गुरुशिष्य संवाद' नाम से कहा जाता है। पुरुषाधिष्ठित प्रकृति सृष्टि-निर्माण करती है, ऐसा कहते समय गुरु जी शिष्य को इस सृष्टि का विवरण बतलाते हैं।२४ "पुरुषाधिष्ठित प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से पृथ्वी। प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और पंच महाभूत ये आठ मूल प्रकृतियां हैं। इन मूलप्रकृतियों से पांच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच विषय और सोलहवां मन, ये षोडश विकार उत्पन्न होते हैं। मन के व्यापार का वर्णन गुरु जी ने ऐसा किया है— "मन शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों से तथा जिह्वा, वागादि इन्द्रियों से संबद्ध है। जैसा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

श्रोत्र का गुण शब्द है, चक्षु का तेज, वैसे मन का भी एक गुण है और वह है अव्यक्त से उत्पन्न हुआ सत्व या ज्ञान ।"२५

इस वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि इसमें समाविष्ट त्रिविध अन्तःकरण का वर्णन सांख्यान्तर्गत त्रिविध अन्तःकरण से भिन्न है। सांख्य दर्शन में बुद्धि और अहंकार को 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं लेकिन ऊपर गुरु-शिष्य संवाद में उनको कहा है मूल प्रकृति। सांख्य दर्शन में अहंकार के दो प्रकार माने गये हैं: वैकृत और भूतादि। वैकृत से ज्ञान-कर्मेन्द्रिय और मन यह सात्विक संघात उत्पन्न होता है और भूतादि से पांच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। गुरु-शिष्यसंवाद में अहंकार का ऐसा प्रकार भेद नहीं है। और जैसा मनके व्यापार का थोड़ा निर्देश पाया जाता है वैसा बुद्धि और अहंकार के व्यापारों का पाया जाता है। इस पद से ऐसा अनुमान होता है कि गुरुजी शिष्य के सामने बुद्धि और अहंकार का समष्टिगत (Macro Cosmic) दृष्टि से वर्णन कराते हैं, व्यष्टिगत (Micro Cosmic) दृष्टि से नहीं। इसलिये बुद्धि और अहंकार के व्यष्टिगत व्यापारों का वर्णन यहां नहीं मिलता है।

(ii) अध्याय २७१-२७६। इस वसिष्ठ-करालजनक संवाद में वसिष्ठ ऋषि कराल-जनक के सामने सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन कर रहे हैं। वसिष्ठ कहते हैं—"शंभु जिसको हिरण्यगर्भ कहते हैं वह बुद्धि-निर्माण करता है। बुद्धिरूप हिरण्यगर्भ विकृति पाकर अहंकार, जिसका नाम प्रजापति है, निर्माण करता है। यह दूसरा सर्ग है। तीसरा सर्ग अहंकार से उत्पन्न होने वाला (सूक्ष्म) भूत सर्ग है। इससे स्थूल आकाशादि महाभूत और शब्दस्पर्शादि अर्थ यह चतुर्थ सर्ग उत्पन्न होता है। चतुर्थ सर्ग से उत्पन्न होने वाला पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और एकादश मन इनका भौतिक सर्ग है।"२६

यहाँ भी बुद्धि, अहंकार इन अन्तःकरणों का निर्देश है, लेकिन वह समष्टिगत (Cosmic) दृष्टि से है। इनके व्यक्तिगत स्थान और व्यापारिक वर्णन वसिष्ठ ने नहीं किया है। समष्टिगत अहंकार का भी यहाँ जो स्वरूप वर्णित है वह सांख्यदर्शनान्तर्गत अहंकार से भिन्न है। सांख्यदर्शन में अहंकार से सृष्टिक्रम Horizontal (समभूमिक) है—अहंकार के सात्विक और तामस इन दो प्रकारों से अनुक्रमेण एकादशेन्द्रिय सृष्टि और तन्मात्रसृष्टि निर्माण होती है। उपरिवर्णित वासिष्ठमत के अनुसार अहंकार से सृष्टिक्रम ऊर्ध्वाभिमुख (vertical) होता है। अहंकार से सूक्ष्म भूत और सूक्ष्म भूतों से स्थूल भूत और शब्द स्पर्शादि अर्थ इत्यादि।

(iii) अध्याय २७८-३०६। ये अध्याय याज्ञवल्क्य-जनक संवाद कहलाते हैं। इस संवाद में याज्ञवल्क्य ने पूर्वोक्त अध्यायसमूह के सदृश ही विश्वघटक तत्वों का आठ मूलप्रवृत्तियों और षोडश विकारों में विभाजन किया है। बुद्धि और अहंकार अष्ट प्रकृतियों में समाविष्ट हैं और मन विकारों में।२७ यहाँ भी बुद्धि और अहंकार इन अंतःकरणों का विचार समष्टिगत (Cosmic) दृष्टि से ही किया गया है। इस लिये यहाँ उनके व्यक्तिगत व्यापारों का कथन नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

याज्ञवल्क्य–जनक संवाद में दूसरी जगह अव्यक्त से उत्पन्न होने वाले तत्वों का कुछ ऐसा परिगणन किया है कि तत्वों के क्रम में फर्क दीख पड़ता है। उन श्लोकों का तात्पर्य देना उचित होगा। याज्ञवल्क्य कहते हैं २८ "अव्यक्त से महान् आत्मा (बुद्धि) निर्माण होता है, जिसको प्रथम प्राधानिक सर्ग कहते हैं। महान् से अहंकार यह बुद्ध्यात्मक द्वितीय सर्ग उत्पन्न होता है। अहंकार से भूतगुणात्मक मन उत्पन्न होता है। इसको तृतीय अहंकारिक सर्ग कहते हैं। मन से महाभूत उत्पन्न होते हैं, जो चतुर्थ मानस सर्ग कहा जाता है। भूतों से शब्दस्पर्शादि पंचम भौतिक सर्ग उत्पन्न होता है।" इस सृष्टि क्रम से यह स्पष्ट होता है कि मन के स्थान में वृद्धि हुई है। मन अहंकार की विकृति है और महाभूतों की प्रकृति बना है।

याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में एक जगह प्रलय का वर्णन है, जिस प्रलय में प्रत्येक तत्व अपने प्रकृतितत्व में प्रलीन हो जाता है।३० "जगत् जल से आपूर्ण हो जाता है। कालाग्नि से जल का क्षय हो जाता है। वायु अग्नि को खाता है। आकाश वायु का ग्रास करता है। मन का लय अहंकार में, अहंकार का महान् में, और महत् का शम्भु-में लय हो जाता है।" इस प्रलयक्रम में भी मन आकाश की प्रकृति मानी गयी है। याज्ञ-वल्क्य ने मन का परिगणन समष्टिरूप तत्वों में किया है, ऐसा उपरिनिर्दिष्ट सृष्टि और प्रलयक्रम से अनुमान होता है।

इस तीसरे वर्ग में जो अध्यायसमूह ऊपर निर्दिष्ट हैं उनमें वर्णित त्रिविध अन्तःकरण का निरूपण व्यक्ति–दृष्टि से न होकर समष्टि–दृष्टि से ही है। उनमें यदि कोई व्यक्ति अभि-प्रेत हो तो वह विश्वात्मा समष्टिरूप परमेश्वर नहीं हो सकता है। उसके दो समष्टिरूप (cosmic) अन्तःकरण–बुद्धि और अहंकार–विश्व सृष्टि के क्रम में महान् प्रकृति–विकृति रूप तत्वों का स्थान ले सकते हैं।

अभी तक हमने मोक्षधर्मान्तर्गत अध्याय समूहों का तीन वर्गों में वर्गीकरण किया है। इन तीन वर्गों में अंतःकरण के स्थान और व्यापारों का जो वर्णन आया है इससे मनोविज्ञान के विकास का इतिहास सूचित होता है। इस इतिहास से, स्थूल दृष्टि से, विकास की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट होती हैं।

पहली और प्राचीनतम अवस्था वह है जिसमें मन को ही एकमेव सर्वश्रेष्ठ अन्तः–करण माना गया है। सब प्रकार के मानसिक व्यापार ज्ञान (Knowledge), प्रवृत्ति, निश्चय (Willing) और भावना (Feeling) ये सब मन के द्वारा ही हो सकते हैं, ऐसी विचारधारा विचारकों की इस विकासावस्था में थी। प्राचीनतम उपनिषदों में भी यही विचारधारा मिलती है। महाभारत में, मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों में, इसी विचार–धारा का अधिक सविस्तर रूप से वर्णन मिलता है। मनोविज्ञानविषयक इतिहास की दृष्टि से,उपरिवर्णित मोक्षधर्मान्तर्गत अध्याय समूहों में से प्रथम वर्ग में जो एकमेव अन्तः–करण मन का वर्णन मिलता है वह प्राचीन उपनिषदों के मन के वर्णन के जैसा नजदीक है वैसा ही वह अधिक विस्तृत होने से उपनिषदुत्तरकालीन है,ऐसा अनुमान किया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनोविज्ञान के इतिहास में दूसरी स्थिति वह है जिसमें मन के अतिरिक्त दूसरा अन्तःकरण, जो बुद्धि है, उसका समावेश होता है। ज्ञान में निश्चय और एकसूत्रीकरण (determination and integration) करना यह बुद्धि का काम है। दूसरे वर्ग के अध्यायसमूहों में बुद्धि और मन का जो वर्णन आया है वह भी कई प्राचीन उपनिषदों से मिलता जुलता किंतु अधिक सविस्तर है। प्राचीन उपनिषदों में विज्ञान मन से उच्चतर कहा गया है। दूसरे उपनिषदों में विज्ञान के वजाय बुद्धि को यह स्थान प्राप्त है। मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों में से द्वितीय वर्ग में वर्गीकृत अध्यायों में भी बुद्धि को ऐसा ही उच्च स्थान दिया गया है और उसके व्यापार का सविस्तर वर्णन किया गया है। इसलिये मोक्षधर्मान्तर्गत बुद्धि और मन के स्थान और व्यापारों का वर्णन विचारेतिहास की दृष्टि से उपनिषत्कालीन विचारधारा की ही प्रगत स्थिति है।

उपर्युक्त दो अवस्थाओं में अहंकार का निर्देश नहीं है। अन्तःकरण के रूप में अहंकार का निर्देश प्राचीन उपनिषदों में भी नहीं उपलब्ध होता। अहंकार का अंतःकरण में समावेश यह मनोविज्ञानविषयक इतिहास में तीसरी अवस्था है। वह मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों में से तृतीय वर्ग में वर्गीकृत अध्यायों के मंतव्य से मिलता है। वहाँ बुद्धि, अहंकार और मन यह अन्तःकरणत्रय निर्दिष्ट है। यह तीसरी अवस्था संक्रमणकाल की है, ऐसा अनुमान है। इसके पूर्व प्राचीन उपनिषदों का काल, जब अहंकार का अन्तःकरण रूप में निर्देश नहीं मिलता, और इसके उत्तर सांख्यादि दर्शनों का काल, जिसमें त्रिविध अन्तःकरण का (Systematic) सुव्यवस्थित और दार्शनिक स्वरूप में विवरण होता है, इन दोनों कालों के वीच जो संक्रमणकाल है उसका स्वरूप मोक्षधर्मान्तर्गत तृतीय वर्ग में वर्गीकृत अध्यायों में मिलता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उद्धरण

१. ईश्वरकृष्णरचित 'सांख्यकारिका'— कारिकाः २३–३५।

२. साचवृत्तिश्चतुर्विधा। संशयो, निश्चयो, गर्वः, स्मरणम् इति। एवंविधवृत्तिभेदेन एक-मप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धि इति अहंकार इति चित्तमिति व्याख्यायते। तदुक्तम्—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥

वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्रसूरिकृता प्रत्यक्षपरिच्छेदः। पृष्ठ ३१
(क्षेमराज, श्रीकृष्णदास · · ·)

३. महाभारत अध्यायों के अंक का निर्देशन और संदर्भ भांडारकर प्राच्चविद्यामन्दिर से प्रकाशित संशोधित महाभारत आवृत्ति के अनुसार है।

४. सर्वं पश्यति यद्दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा।
मनसि व्याकुले तद्धि पश्यन्नपि न पश्यति॥ १२. १८०. १६

५. प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत्। १२. १७६. २

६. मनसोऽपि शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते। १२. १८०. ३०

७. इन्द्रियाणीति पञ्चैते चिन्तपूर्वंगमा गुणाः। १२. २१२. १०
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाण्युक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि।
मनःषष्ठानि वक्ष्यामि पञ्च कर्मेन्द्रियाणितु॥ १२. २१२. २०

८. तत्र सम्यङ्मनो नाम त्याग शास्त्रमनुत्तमम्।
शृणु यत्तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति॥ ११२. २१३. १६

९. स्थितो मनसि यो भावः सवै क्षेत्रज्ञ उच्यते॥ १२. २१२. ४०

१०. प्रतिबुद्धो विकुरुते ब्रह्माक्षय्यं क्षपाक्षये।
सृजते च महद्भूतं तस्माद् व्यक्तात्मकं मनः॥ ३७
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम्। ३४
मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्माद् तस्य शब्दो गुणो मतः॥ ३५
आकाशात्तु विकुर्वाणात् · · · वायुः। ३६
वायोर्विकुर्वाणाज्योतिः।३७
एते तु सप्त पुरुषा नानावीर्याः। ४७.
ते समेत्य महात्मानमन्योन्यमभिसंश्रिताः।
शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते॥ ४२ —अध्याय २२४

११. प्रशाम्यति तदा वायुः खं तु तिष्ठति नानदत्॥६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आकाशस्य गुणं शब्दं अभिव्यक्तात्मकं मनः ।
मनसो व्यक्तमव्यक्तं स ब्राह्मः प्रतिसंचरः ॥ १० —अध्याय २२५

१२. इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते वश्यान् यन्तेव वाजिनः ।
मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रितः ॥ ११
न धृयं चक्षुषा दृश्यो नच सर्वैरपीन्द्रियैः ।
मनसा संप्रदीप्तेन महानात्मा प्रकाशते ॥ १६—अध्याय २३२

१३. कठोपनिषद् १. १५. ४५ ऐतरेयोपनिषद् २ ।
छांदोग्योपनिषद् ३.१४.२; ५. ७.३—५.

१४. The clear assertion that it is the mind which sees and hears (and not the external organs separately) is the beginning of psychological investigation—"G, S. Brett 'History of Psychology', Encyclopeadia Britannica (14th edition) Vol. 18. P. 706 (c).

१५. इन्द्रियाणि मनश्चैव विज्ञानान्यस्य भारत ।
सप्तमी बुद्धिरित्याहुः क्षेत्रज्ञः पुनरष्टमः ॥ ११
चक्षुरालोकनायैव संशयं कुरुते मनः ।
बुद्धिरध्यवसायाय क्षेत्रज्ञः साक्षिवास्थितः ॥ ३२
गुणान्नेनीयते बुद्धिः बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
येन पश्यति तच्चक्षुः शृणोति श्रोत्रमुच्यते ।
जिघ्रति घ्राणमित्याहुः रसं जानाति जिह्वया ॥ १८
त्वचा स्पृशति च स्पर्शान् बुद्धिर्विर्भियद्यसकृत् ।
येन संकल्पयत्यर्थं किंचिद्भवति तन्मनः ॥ १७
पुरुषाधिष्ठिता बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ।
कदाचिल्लभते प्रीति कदाचिदनुशोचति ॥ २१
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि वर्तते । २२ — अध्याय १०७

१६. इन्द्रियेभ्यः मनः पूर्वं बुद्धि परतरा ततः ।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं परम् ॥ १६०. १०
अव्यक्तात्ममृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः ।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति ॥ १६७.११
मनसा चान्यदाकांक्षन् परं न प्रतिपद्यते । १६६.२१
विद्धि ज्ञानगुणं मनः । प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततोबुद्धिःप्रवर्तते ॥ १६८.१
व्यवसायगुणोपेता बुद्धिः । १६८.८
प्राप्तान् गुणान् संस्मरते चिराय स बुद्धिरूपः परमः स्वभावः ॥ १७६.६
यदा कर्मगुणोपेतां बुद्धिर्मनसि वर्तते
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोग समाधिना ॥ १६८.६

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१७. श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वंस्वमात्मनमात्मना,
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च क्षेत्रज्ञः तानि पश्यति ।

१८. इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यः परम मनः । मनसस्तु परा बुद्धि,बुद्धे रात्मा महान् परः ।३
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्परमोऽमृतम्। अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः॥
४, अ २३८ ।

यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मनः ॥३
शृण्वती भवति श्रोत्रं, स्पृशती स्पर्शमुच्यते ॥४
यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मनः ॥ ६, अध्याय २४० ।
चक्षुरालोचनायैव संशयंकुरुते मनः । बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ-उच्यते । १५
अध्याय २३६ ।

१६. व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनोव्याकरणात्मकं । अध्याय २४४, ७७ ।

२०. शरीरं पुरमित्याहुः स्वामिनी बुद्धिरिष्यते ।
तत्र बुद्धेः शरीरस्थं मनो नामार्थचिन्तकम् ॥
इन्द्रियाणि जनः पौराः ··· ।
यदर्थं बुद्धिरध्यास्ते न सोऽर्थः परिषीदति ॥
यदर्थं पृथगन्यास्ते मनस्तत् परिषीदति ॥
पृथग्भूतं यदा बुद्धया मनोभवति केवलम् ।
तत्रैनं विवृतं शून्यं रजः पर्यवतिष्ठते । अध्याय २४६. ६-१४ ।

२१. चलोपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पनाक्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥
इष्टानिष्ट विकल्पश्च व्यवसायः समाधिता ।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धौ पंचेह ये गुणाः ॥ अध्याय २४७. ६-१० ।

महाभारत के व्याख्याकारों ने मन और बुद्धि के उपरिनिर्दिष्ट गुणों का कुछ स्पष्टीकरण दिया है। उदाहरणार्थ—

अर्जुनमिश्र—चलाचलनम्, उपपत्तिः, युक्तिः, व्यक्तिः ज्ञानकारणत्वम्।
विसर्गः न्यासः अनपेक्षितस्य, कल्पना, नाम जात्यादि । क्षमा, क्रोधादिशमनम्। प्रकाशकत्वात् भासनं, असदप्रकाशकत्वादभासनम् ॥

परमानंद—चलशब्दश्चलत्वे, उपपत्तिर्युक्तिर्निश्चय योग्यता, व्यक्तिः पदार्थज्ञानम्। विसर्गः त्यागः क्षमा क्रोधादि सहनम् ।

नीलकण्ठ—धैर्योपपत्तिः ('चल' के वजाय 'धैर्य' ऐसा पाठ-भेद है) ऊहापोह कौशलं, व्यक्तिः, स्मरणं, विसर्गः, विपरीतः सर्गः, भ्रान्तिः, कल्पनामनोरथवृत्तिः, क्षमा प्रसिद्धां, सद्वैराग्यादि, असद् रागद्वेषादि, आशुता अस्थिरत्वम् ।

२२. ज्ञानज्ञेयान्तरे तस्मिन् मनोनामापरो गुणः ।
विचारयति येनायं निश्चये साध्वसाधुनी ॥

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वादशस्त्वपरस्तत्र बुद्धिर्नाम गुणःस्मृतः।
येन संशयपूर्वेषु बोद्धव्येषु व्यवस्यति। अध्याय ३०८, १०२-१०३.

२३. चित्तं इन्द्रिय संघानात् परंतस्मात् परंमनः।
मनसस्तु पराबुद्धिः चेत्रज्ञो बुद्धितः परः॥
पूर्वं चेतयते जन्तुरिन्द्रयैर्विषयान् पृथक्।
विचार्य मनसा पश्चादथ बुद्ध्याव्यवस्यति॥
इन्द्रियैरुपलब्धार्थान् सर्वान् यस्त्वध्यवस्यति॥
चित्तमिन्द्रिय संघातं मनोबुद्धिं तथाष्टमीम्।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाण्याहुरेतान्यध्यात्म चिन्तकाः॥ अध्याय २६७. १६-१८।

२४. पुरुषाधिष्ठितं भावं प्रकृतिः सूयते सदा।
हेतु युक्तमतः सर्वं जगत् संपरिवर्तते॥
अव्यक्त कर्मजा बुद्धिरहंकाराद्वायुराकाश संभवः॥
वायोस्तेजस्ततश्चापस्तद्भ्यो हि वसुधोद्गता।
मूल प्रकृतयोऽष्टो ता जगदेतास्ववस्थितं।
ज्ञानेन्द्रियाण्यतः पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यपि।
विषयाः पञ्च चैकं च विकारे षोडषं मनः॥ अध्याय २०३, २०५, २५-२७.

२५. शब्दः स्पर्शोऽथ रूपंच रसोगन्धः तथैवच।
विज्ञेयंव्यापकं चित्तं तेषु सर्वगतं मनः।
रसज्ञानेतु जिह्वेयं व्याहृते वाक्तथैव च।
इन्द्रियैर्विविधैर्युक्तं सर्वं व्यस्तं मनस्तथा॥
मनः सत्व गुणं आहुः सत्वमव्यक्तजं तथा॥ अध्याय २०३. २६-३३।

२६. सृजत्यनन्त कर्माणं महान्तं भूतमग्रजम्।
मूर्तिमन्तममूर्त्यात्मा विश्वं शम्भुः स्वयंभुवः॥
हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरितिस्मृतः।
एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना।
अहंकारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम्॥
भूत सर्गमहंकारात्तृतीयं विद्धि पार्थिव।
अहंकारेषु भूतेषु चतुर्थं विद्धि वैकृतम्
वायुज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा।
शब्दःस्पर्शश्चरूपंच रसो गन्धस्तथैवच।
एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम्।
पंचमं विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत्।
श्रोत्र त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पंचम।
वाक्च हस्तौच पादौच पायुर्मेढं तथैव च॥

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।
संभूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ।। अध्याय २६१.१५–२८.

२७. अध्याय २७८. १०—१५ ।

२८. अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यते पार्थिव ।
प्रथमंसर्गमित्येतत् प्राहुः प्राधानिकं बुधाः ।।
महतश्चाप्यहंकार उत्पद्यति नराधिप ।
द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्ध्यात्मकं स्मृतौम् ।।
अहंकाराच्च संभूतं मनो भूत गुणात्मकम् ।
तृतीयः सर्ग इत्येष आहंकारिक उच्यते ।।
मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप ।
चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं परिचक्षते ।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
पञ्चमं सर्गमित्याहुर्भौतिकं भूतचिन्तकाः ।। अध्याय २७८.१६-२०.

३०. (जगत्) अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूर्यत समन्ततः ।
ततः कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम् ।
तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम् ।
भक्षयामास बलवान् वायुरष्टात्मको बली ।
तममतिबलं भीमाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना ।
आकाशमप्यतिनदन्मनो ग्रसति चारिकम् ।।
मनो ग्रसति सर्वात्मा सोऽहंकारः प्रजापतिः ।
अहंकारं महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ।।
तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भुः प्रजापतिः ।। अध्याय ३००.७–१३ ।

३१. बृहदारण्यक उपनिषद् ३.७.२२; ४.३.७; ४.४.५.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

III

भारतीय मनोविज्ञान में प्रत्यक्ष का स्थान

राम चन्द्र पाण्डेय

भारतीय दर्शन में मनस्तत्व का विचार जितनी गंभीरता से हुआ है उतना कदाचित् किसी अन्य दर्शन–प्रस्थान में नहीं हुआ है। परन्तु यह विचार आज के मनोविज्ञान की दृष्टि से कितना उपादेय है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। भारत में वैज्ञानिक पद्धति से मन के सूक्ष्म रूपों तथा इसकी क्रियाओं का विश्लेषण प्रयोगशाला की सीमा में न होकर अन्तर्दर्शन के माध्यम से हुआ है। यही कारण है कि आज के मनोविज्ञान से जिन मानस–रहस्यों का उद्‌घाटन हो सका है वे रहस्य प्राचीनकाल में अज्ञात रहे। परन्तु अन्तर्दर्शन पद्धति की भी अपनी विशेषताएं हैं और भारत के आचार्यों ने जो बातें अन्तर्दर्शन के अध्ययन से ढूँढ निकाली थीं वे आज प्रयोगशाला की सीमा में उपलब्ध नहीं हो सकतीं तथा उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा असंभव सी हो गई है। यही कारण है कि प्रायोगिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त लोग भारतीय मनोविज्ञान को शुद्ध मनोविज्ञान न मानकर दर्शन और रहस्यवाद की संज्ञाओं से अभिहित करते हैं।

प्रत्यक्ष के संबन्ध में भारत में काफी विचार हुआ है। प्रत्यक्ष ज्ञान का द्वार है अतः मन का अध्ययन बिना प्रत्यक्ष के अध्ययन के संभव ही नहीं है। हमारे यहां प्रत्यक्ष का अध्ययन दो दृष्टियों से किया गया है। प्रामाणिकता की दृष्टि से इसका अध्ययन प्रमाणशास्त्र के अन्तर्गत आता है। इन्द्रियों तथा उनके विषयों के संबन्ध से उत्पन्न ज्ञान का अध्ययन इसी कोटि में आता है। इसके विपरीत इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष का अध्ययन भारतीय दर्शन की अपनी मौलिकता है, जिसका विवेचन योगशास्त्र का विषय है।

प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान है क्योंकि अनुमान आदि की तरह इसमें इन्द्रियों से अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। योगज प्रत्यक्ष में तो इन्द्रियां भी सहायक नहीं हैं। जिस प्रत्यक्ष में इन्द्रियां सहायक होती हैं उसे हम लौकिक प्रत्यक्ष कह सकते हैं। इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। लौकिक प्रत्यक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन्द्रियों पर आधारित होता है अतः इन्द्रिय-संबन्धी दोषों के कारण इसमें भी दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव दूषित लौकिक प्रत्यक्ष अनिश्चयात्मक, भ्रमात्मक और असामान्य इन तीन भागों में बांटा जा सकता है। स्वप्न में इन्द्रिय-व्यापार नहीं होता फिर भी जाग्रत अवस्था में किए गए इन्द्रिय-व्यापार के कारण स्वप्न होते हैं और स्वप्नावस्था में स्वप्न-द्रष्टा को आभास होता है कि उसकी इन्द्रियां सक्रिय हैं। अतः स्वप्न भी प्रत्यक्ष के अध्ययन की परिधि में आता है।

इन प्रत्यक्ष के भेदों का क्रमशः विवेचन करने के पूर्व, भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों के अनुसार प्रत्यक्ष क्या है तथा इसके लिए किन कार्य-कारणों की आवश्यकता होती है, इसका अध्ययन आवश्यक है। अतः हम सर्वप्रथम भारतीय दर्शन में प्राप्त प्रत्यक्ष के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

प्रत्यक्ष के सिद्धान्त

(१) न्याय-दर्शन

न्यायसूत्र के अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रियों और उसके सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान है। प्रत्यक्ष यदि सत्यज्ञान का माध्यम या प्रमाण माना जाए तो इसे सर्वदा भ्रम-रहित या अव्यभिचारी होना चाहिए। साथ ही शुद्ध प्रत्यक्ष विषय-सन्निकर्ष मात्र से उत्पन्न होता है, अतः उसमें पूर्व संस्कार से उत्पन्न कल्पना का सम्मिश्रण नहीं होना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष की एक अन्य विशेषता है-कल्पना से रहित होना। जब भी कल्पना का सम्मिश्रण होगा प्रत्यक्ष शब्द के माध्यम से व्यक्त किया जा सकेगा। कल्पना के सम्मिश्रण के पूर्व यह प्रत्यक्ष शब्दातिक्रान्त अथवा अव्यपदेश्य कहा जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सविकल्पक को प्रत्यक्ष ही नहीं मानते। वास्तव में निर्विकल्पक और सविकल्पक ये दो भेद न्याय दर्शन में माने गए हैं, इनका विवेचन हम आगे करेंगे।

प्रत्यक्ष की उत्पत्ति एक प्रक्रिया पर आधारित है। वस्तु का इन्द्रिय से संबन्ध अथवा सन्निकर्ष होता है। वस्तु से संबंधित इन्द्रिय मन से संयुक्त होती है और वह मन आत्मा से संबन्धित हो कर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष, इन्द्रिय-मन-संबन्ध, मन-आत्मा संबन्ध इन तीन बातों पर आधारित माना गया है। इनमें से मन-आत्मा का संबन्ध सभी ज्ञानों में समान है, मन-इन्द्रिय संबन्ध सभी ज्ञानों में समान है, मन-इन्द्रिय संबन्ध भी अनुमान आदि में मिलता है। परन्तु विषय-इन्द्रिय सन्निकर्ष-प्रत्यक्ष की अपनी विशेषता है जो अन्य प्रकार क ज्ञानों में उपलब्ध नहीं होती।

गाढ़ निद्रा में सोया व्यक्ति तेज आवाज से जाग जाता है क्योंकि आवाज की तीव्रता उसके श्रवणेन्द्रिय को अपनी ओर आकृष्ट करती है। फलस्वरूप उसका मन चंचल हो जाता है और उसे आत्मा के साथ संयुक्त होने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष का प्रमुख हाथ है। परन्तु प्रत्यक्ष में मन का महत्व भी कम नहीं है। किसी विषय में ध्यान लगा होने पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कभी-कभी हम सामने से जाती वस्तु को देख नहीं पाते अथवा किसी बात को सुन नहीं पाते। यह इसलिए होता है कि यद्यपि विषय और इन्द्रिय का संबन्ध है फिर भी मन के अन्यत्र व्यापृत होने के कारण हमें उस विषय के संस्कार को आत्मा तक पहुँचाने का माध्यम नहीं मिल पाता। यह माध्यम मन है। इन्द्रियों द्वारा विषय की प्रतिच्छाया१ गृहीत होती है, इसी प्रतिच्छाया को मन इन्द्रियों से लेकर आत्मा को पहुँचाता है जिसमें ज्ञान होता है। अतः इन्द्रिय-सन्निकर्ष और ज्ञान के बीच मन मध्यस्थ का काम करता है।

इन्द्रियां विषय की ओर दो कारणों से आकृष्ट होती हैं।१ विषय की तीव्रता और पटुता इन्द्रियों को विषय की ओर उन्मुख करती है। तेज आवाज़ का प्रत्यक्ष कमज़ोर आवाज़ के प्रत्यक्ष से शीघ्र होता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष में विषय ही प्रमुख कारण है।२ इन्द्रियों का विषय की ओर उन्मुख होने का दूसरा कारण है आत्मा की इच्छा और द्वेष। यदि आत्मा में सुगन्धि पाने की इच्छा होती है तो उस आत्मा की इच्छा का संदेश मन के द्वारा इन्द्रिय में पहुँचता है और इन्द्रिय विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर आत्मा को सुगन्धि का अनुभव करा देती है। इन दोनों कारणों से उत्पन्न प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष अत्यन्त प्रमुख कारण है। उनमें भेद केवल इस बात का है कि पहले प्रकार में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का आरंभ विषय से होता है और दूसरे प्रकार में आत्मा से। मन, आत्मा, इन्द्रियां और विषय इनके परस्पर संबंध से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रत्येक अपने आप प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं कर सकता; प्रत्यक्ष इनके समूह से उत्पन्न ज्ञान है।

सुख, दुःख आदि का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से होता है—अनुमान अथवा शब्द से इनका ज्ञान असंभव है। परन्तु इस ज्ञान में विषयेन्द्रिय संयोग सहायक नहीं है क्योंकि सुख या दुःख चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा या त्वक् से ज्ञेय नहीं है। इनके ज्ञान में केवल मन कारण है। परन्तु मन चक्षु आदि की तरह एक इन्द्रिय नहीं है। अतः न्याय-दर्शन में सुख, दुःख आदि का प्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है, इसके उत्तर में कहा गया है कि मन भी एक इन्द्रिय है परन्तु यह चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों से विलक्षण है। चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय निश्चित हैं—जैसे चक्षु का विषय उद्भूत रूप, श्रोत्र का विषय शब्द, घ्राण का विषय गंध, जिह्वा का विषय रस और त्वक् का विषय स्पर्श। मन का कोई निश्चित विषय नहीं है; यह सभी प्रकार के विषयों का ग्रहण करने में सहायक होता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय एक विशेष द्रव्य है, यथा—चक्षु तेज है, घ्राण पृथ्वी है, श्रोत्र आकाश है, जिह्वा जल है, तथा त्वक् वायु है। मन इन द्रव्यों से विलक्षण स्वतंत्र द्रव्य है। परन्तु इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह इन इन्द्रियों से पृथक् एक इन्द्रिय है और इसके दो कार्य हैं—(१) इन्द्रियों को ज्ञान में सहायता देना और (२) स्वतंत्र रूप से सुख-दुःख आदि का ज्ञान करना। इसी दूसरे अर्थ में इसे एक इन्द्रिय मानते हैं और इससे जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष के अंतर्गत स्वीकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करते हैं। जैसे चाक्षुष, घ्राणज, श्रोत्रज, रासन तथा त्वाक् प्रत्यक्ष होते हैं वैसे ही मानस प्रत्यक्ष भी होता है।

न्याय के प्रत्यक्ष सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जा सकता है तो फिर योगियों के ज्ञान को कैसे प्रत्यक्ष-ज्ञान माना जा सकता है ? यह कहा जाता है कि योगी अतीत, अनागत और परोक्ष में वर्तमान विषयों का भी उसी तरह प्रत्यक्ष करता है जैसे वह साक्षात् उपस्थित विषयों का करता है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है तो योगी का ज्ञान प्रत्यक्ष में गृहीत नहीं होगा। इसी कारण से परवर्ती नैयायिकों ने प्रत्यक्ष को दूसरे ढंग से बतलाया है। विश्वनाथ का कहना है कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें दूसरे ज्ञान की सहायता की अपेक्षा नहीं है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान है। अनुमान में लिंग-ज्ञान तथा शब्द-ज्ञान में शक्ति-ग्रह कारण होते हैं, अतः वे दूसरे ज्ञानों पर आधारित हैं, परन्तु प्रत्यक्ष के लिए इस प्रकार के किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। यह स्वतंत्र ज्ञान का जनक प्रमाण है। योगी का जो ज्ञान होता है वह भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि योगी बिना किसी अन्य ज्ञान की सहायता के ही ज्ञान प्राप्त करता है।

(२) मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य जैमिनी ने प्रत्यक्ष का वर्णन करते हुए कहा है "आत्मा में इन्द्रिय और विषय के संबंध से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और यह अतीन्द्रिय धर्म का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक नहीं होता।" न्याय के प्रत्यक्ष के लक्षण तथा मीमांसा के इस लक्षण में बहुत समानता है। विषय-इन्द्रिय, इन्द्रिय-मन और मन-आत्मा के संबंधों से यह उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष का विषय, इन्द्रिय और आत्मा इनके होने पर ही प्रत्यक्ष संभव है। कुमारिल का यह कहना है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय को भली-भांति विषय के साथ सम्पृक्त होना चाहिये। मृग-मरीचिका, गंधर्व नगर आदि का मिथ्या-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इन में इन्द्रिय विषय के साथ संपृक्त होती ही नहीं। सुख, दुःख आदि का भी प्रत्यक्ष होता है क्योंकि इन में यद्यपि बाह्य इन्द्रिय-विषय-संपर्क संभव नहीं है फिर भी आन्तर इन्द्रिय या मन का विषय से संपर्क होने पर ही इन का ज्ञान होता है।

प्रभाकर के अनुसार प्रत्यक्ष साक्षात् प्राप्ति है। प्रत्येक प्रत्यक्ष में तीन चेतनाएं अथवा त्रिपुटी संवित् होती हैं। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनों का प्रत्येक प्रत्यक्ष में ज्ञान होता है। जब प्रत्यक्ष होता है उसी समय प्रत्यक्ष- कर्त्ता को यह भी ज्ञान हो जाता है कि उसे प्रत्यक्ष हो रहा है। प्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य प्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं होती, अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। चेतना या संवित् स्वयं-प्रकाश है, यह विषय को तथा अपने आप को-दोनों को-एक साथ प्रकाशित करती है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि मीमांसा दर्शन में सभी ज्ञान स्वतः-प्रमाण हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही ज्ञाता के द्वारा प्रमाणभूत मान लिया जाता है। कोई भी व्यक्ति एक फूल देखता है तो देखने के साथ ही यह मान लेता है कि फूल का प्रत्यक्ष सही है। यहांतक कि हम भ्रम को भी सही मान लेते हैं। रस्सी में सर्प का ज्ञान होते ही हम डर के मारे काँपने लगते हैं। अतः एक ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है तथा इसका ज्ञान भी स्वतः होता है। यदि प्रामाण्य को पर से उद्भूत मानें तो प्रामाण्य की प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं होगा। एक व्यक्ति को किसी एक वस्तु के ज्ञान की प्रामाणिकता जानने में अपने सारे जीवन को लगा देना पड़ेगा तब भी उसे प्रामाण्य का निश्चय न हो पाएगा। अतः प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है, परन्तु बाद के ज्ञानों से इसमें अप्रामाणिकता का ज्ञान हो सकता है। जैसे किसी को पहले रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है और वह उसे सत्य मान लेता है परन्तु बाद में उसे जब यह मालूम होता है कि जिसे वह सर्प समझता है वह तो वास्तव में रस्सी है, तो इस द्वितीय ज्ञान से प्रथम ज्ञान में अप्रामाणिकता उत्पन्न होती है। अतः प्रामाण्य तो स्वतः होता है, पर अप्रामाण्य परतः ही होता है। न्याय-दर्शन में इसके विपरीत यह माना जाता है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों पर से उत्पन्न होते हैं। ज्ञान उत्पत्ति काल में न तो प्रमाण है और न अप्रमाण।

(३) सांख्य दर्शन

प्रत्यक्ष बुद्धि की वृत्ति है। विषय के आकार के प्रभाव से बुद्धि का आकार भी विषय के आकार के सदृश हो जाता है। प्रत्यक्ष में बुद्धि की क्रिया विषय के संपर्क पर आधारित नहीं है, यह स्वाभाविक है। केवल क्रियागत वैशिष्ट्य विषय-संपर्क से जन्य होता है। यह बुद्धि की वृत्ति इन्द्रियों के माध्यम से विषय तक पहुँचती है और वहां विषय के आकार में परिणत हो जाती है। अतः प्रत्यक्ष के लिए विषय की सन्निधि अत्यन्त आवश्यक है। परंतु कभी-कभी विषय के सन्निकट होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। सांख्य के अनुसार इसका कारण यह है कि उस समय बुद्धि तामस गुण से आवृत होती है, अतः विषय का इसे प्रत्यक्ष नहीं होता। विषय-इन्द्रिय-संपर्क में इस गुण का शमन होता है तब प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्यक्ष के लिए सत् विषय का होना आवश्यक है। भ्रम में विषय असत् होता है। वृत्ति का अपना कोई आकार नहीं होता, विषय के कारण ही इस में आकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष के विषय दो प्रकार के होते हैं: बाह्य विषय, जैसे: पृथ्वी, जल, टेबुल आदि और आभ्यन्तर विषय, जैसे: सुख, दुःख आदि। इन्द्रियां भी इसके लिये आवश्यक हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय निश्चित है। इन्द्रियों का विषय से संपर्क होने पर ही वृत्ति विषय के आकार में परिणत होती है और ज्ञान होता है। बुद्धि की क्रिया तो प्रत्यक्ष के लिए बहुत ही आवश्यक है। इस क्रिया के बिना वृत्ति का तामसिक आवरण नहीं हटता। जब यह आवरण हट जाता है तो बुद्धि में सत्व गुण का प्रकाश होने से ज्ञान होता है। इस सत्व के कारण ही विषय का सुनिश्चित ज्ञान होता है। संशय में सत्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का उदय न होने से निश्चित ज्ञान नहीं रहता।

वाह्य इन्द्रियां विषयों के साथ संपर्क में आकर मन को विषयों से अवगत कराती है। मन उन विषयों पर मनन करके उनको अहंकार के सम्मुख उपस्थित करता है। अहंकार के कारण ही विभिन्न विशृंखलित विषय एकाकार होते हैं और बुद्धि में प्रतिविंबित होते हैं, जिससे पुरुष में ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रियों के साथ साथ मन, अहंकार और बुद्धि इन तीन आन्तर इन्द्रियों अथवा अन्तःकरणों का भी सहयोग आवश्यक है।

मन, अहंकार और बुद्धि इनको अन्तःकरण कहते हैं। इन्द्रियों को वाह्य करण कहते हैं। वाह्य-करणों से विषयों का आलोचन मात्र होता है। आलोचन का अर्थ है विषयों का याथातथ्य रूप में ग्रहण। इन्द्रियों के ग्रहण में केवल 'इदम्' का वोध होता है; वह क्या है, कैसा है इसका वोध इन्द्रियों से संभव नहीं है। किसी आचार्य के मत से आलोचन निर्विकल्प, (अनिश्चित) ज्ञान है और किसी के मत से इसमें निर्विकल्प और सविकल्प दोनों का समावेश होता है। मन इस आलोचन ज्ञान का विश्लेषण करता है: 'यह क्या है, क्या नहीं'। इसमें द्रव्य, गुण आदि का विभाजन मन की क्रिया से होता है। इसी क्रिया को मनन कहते हैं। आलोचन मूक व्यक्ति का ज्ञान है परन्तु मनन से उत्पन्न ज्ञान विशेषण-विशेष्य भाव संपन्न ज्ञान होता है। आलोचन का मन के द्वारा विश्लेषण हो जाने पर अहंकार के द्वारा व्यक्तित्व का समावेश किया जाता है। 'यह ज्ञान मेरा है', 'मैं इसे देख रहा हूँ' इस ज्ञान में 'अहं' या 'मैं' का समावेश अहंकार की देन है। आलोचन और मनन निर्वैयक्तिक ज्ञान हैं—अहंकार वैयक्तिक है। इसी अहंकार-प्रदान की प्रक्रिया को अभिमान कहा जाता है। अभिमान की प्रक्रिया समाप्त होने पर बुद्धि सक्रिय होती है। उपस्थित विषय के प्रति क्या करना है, क्या नहीं करना है, इसका निर्णय बुद्धि करती है। इसी को अध्यवसाय कहते हैं।

बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन परस्पर निरपेक्ष करण नहीं है। इन तीनों को मिलाकर अन्तःकरण कहा जाता है। इन्द्रियों से विषय का निश्चय-ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति उसके बारे में सोचता है कि 'मुझे क्या करना चाहिए', बुद्धि इसका निश्चय करती है। बुद्धि से अहंकार तथा अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है, इनमें परस्पर कार्य-कारण-भाव संवंध है। सांख्य के अनुसार कार्य-कारण से पृथक् नहीं होता। एक ही वस्तु की दो अवस्थाएँ होती हैं। कारणावस्था में वस्तु उत्पादक होती है और कारणा-वस्था में उत्पादक वस्तु उत्पन्न हो जाती है। अतएव तीनों अन्तःकरण कारण की दृष्टि से एक हैं परन्तु उनमें कार्य की दृष्टि से भेद होता है। अन्तःकरण और वाह्य इन्द्रियों में परस्पर द्वार-द्वारीभाव संवंध है। वाह्य इन्द्रियां ज्ञान के द्वार हैं और अन्तःकरण द्वारपाल है। इन्द्रियां से प्राप्त विषय को अन्तःकरण पूर्वोक्त प्रक्रिया से पुरुष या आत्मा के ज्ञान के लिए उपस्थित करता है। अन्तःकरण केवल प्रक्रिया है परन्तु पुरुष ज्ञाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। चेतना पुरुष में ही है – अन्तःकरण चेतना–शून्य होता है।

पुरुष चेतनारूप है, चेतना पुरुष का गुण नहीं है। पुरुष को चेतनाहीन रूप में सोचा ही नहीं जा सकता। पुरुष सबका ज्ञाता है, इसका ज्ञाता कोई नहीं है। अन्तःकरण स्वयं चेतना से रहित है और पुरुष के ज्ञान का विषय है। अतः अन्तःकरण ज्ञान का कर्ता नहीं केवल ज्ञान को माध्यम माना जाता है। पुरुष के अभाव में अन्तःकरण के रहते हुए भी ज्ञान संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि पुरुष स्वयं क्रिया–शून्य है। सारी मानसिक क्रिया अन्तःकरण में होतीं है। ज्ञान सत्ता है, क्रिया नहीं। अतएव पुरुष और अन्तःकरण एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न तत्व हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार अन्तःकरण प्रकृति से उत्पन्न है और पुरुष प्रकृति से पृथक् है। सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण प्रकृति में पाए जाते हैं। पुरुष त्रिगुणातीत है। अन्तःकरण चेतनाहीन होने के कारण अपने लिए कुछ नहीं करता। अन्तःकरण की क्रिया 'पर' या पुरुष के लिए ही होती है। परन्तु दूसरी ओर पुरुष और अन्तःकरण में परस्पर संबंध भी है। पुरुष बुद्धि में प्रतिबिंबित होता है और बुद्धिगत क्रिया को यह अज्ञानवश अपनी क्रिया मान लेता है। पुरुष के प्रतिबिंब से अचेतन बुद्धि भी मानों चेतन हो जाती है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार पुरुष बुद्धि में तथा बुद्धि पुरुष में प्रतिबिंबित होती है। पुरुष और बुद्धि एक–दूसरे में प्रतिबिंबित होकर ज्ञान का संपादन तथा मानस–व्यापार का संचालन करते हैं। अतः यद्यपि पुरुष और अन्तःकरण में तथ्यतः कोई संबंध नहीं है परन्तु प्रतिबिंब के कारण उनमें सम्बंध मालूम पड़ता है।

बुद्धि का रूप विचित्र–सा है। प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण यह अचेतन है परन्तु पुरुष की तरह यह सत्व गुण का बाहुल्य होने के कारण पारदर्शक और प्रकाशक भी है। चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति ये दोनों बुद्धि में ही संपृक्त होते हैं। परन्तु यहां संपर्क का अर्थ एक दूसरे को प्रभावित करना नहीं है। बुद्धि और पुरुष एक दूसरे के समानान्तर भी नहीं हैं। सांख्य का सिद्धान्त समानान्तरतावाद और प्रभावकतावाद इन दोनों से भिन्न है। इसे हम प्रतिबिंबवाद कह सकते हैं, क्योंकि पुरुष और बुद्धि एक दूसरे के बिंब से प्रतिबिंबित होते हैं जिसके कारण बुद्धि में चेतना प्रतीत होती है और पुरुष में क्रिया का आभास होता है। वास्तव में न तो बुद्धि चेतन है और न पुरुष सक्रिय।

(४) जैन दर्शन

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है: अपरोक्ष और परोक्ष। अपरोक्ष ज्ञान साक्षात् ज्ञान है; इसमें किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। परोक्ष ज्ञान माध्यम के द्वारा होता है। कुछ आचार्य प्रत्यक्ष को परोक्ष ज्ञान मानते हैं: क्योंकि इस ज्ञान में इन्द्रिय का माध्यम आवश्यक है और साथ ही इसमें भ्रम की भी संभावना रहती है। दूसरे आचार्य प्रत्यक्ष को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं क्योंकि इसमें वस्तु का बिना किसी ज्ञान के माध्यम से प्रत्यक्ष होता है। अतएव यदि अपरोक्ष का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ "माध्यम के विना उत्पन्न वस्तु का साक्षात् ज्ञान" हो तो प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। यदि इसका अर्थ हो "वस्तु का साक्षात् ज्ञान" तो प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है। क्योंकि इसमें इन्द्रियों के माध्यम की आवश्यकता होती है।

प्रत्यक्ष को विशद ज्ञान कहा गया है। विशद का अर्थ होता है–वस्तु के सभी धर्मों का ज्ञान। अनुमान आदि के द्वारा कुछ धर्मों का ही ज्ञान होता है, परन्तु प्रत्यक्ष सभी धर्मों का ज्ञान कराता है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है: सांव्यवहारिक और मुख्य। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दैनिक जीवन में होने वाला प्रत्यक्ष है परन्तु मुख्य प्रत्यक्ष असाधारण प्रत्यक्ष है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियों के माध्यम से होता है। अतः उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। मन को जैन दर्शन में अनिन्द्रिय कहा जाता है, अतः मानसिक प्रत्यक्ष को अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। मुख्य प्रत्यक्ष भी तीन प्रकार का होता है (२) अवधि प्रत्यक्ष में देश और काल के वंधन के विना भूत और भविष्यत् वस्तुओं तथा वर्तमान की दूर–देशस्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। (२) मनः–पर्याय में दूसरे के मन का ज्ञान होता है। (३) केवल ज्ञान देश–काल के वंधन से परे है और इसे सर्वज्ञता कहते हैं।

विषय के संपर्क से जव इन्द्रियां सक्रिय हो कर ज्ञान उत्पन्न करती हैं तो वह ज्ञान वस्तु की सत्तामात्र का होता है, उसके वारे में उसकी सत्ता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं ज्ञात होता। इस ज्ञान को दर्शन कहते हैं। जब वस्तु के विशेष गुणों का ज्ञान होता है तो उसे ज्ञान कहते हैं। दर्शन को निर्विकल्प ज्ञान तथा ज्ञान को सविकल्प ज्ञान कह सकते हैं। इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान सर्वदा सविकल्पक ही होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को वे ज्ञान नहीं, दर्शन कहते हैं। इस–लिए दर्शन को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते क्योंकि उसमें वस्तु का ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है।

मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय और केवल जैन दर्शन के अनुसार ये पांच प्रकार के ज्ञान होते हैं। अंतिम तीन ज्ञानों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मति–ज्ञान सामान्य ज्ञान है जो इन्द्रियों तथा मन से प्राप्त होता है। स्मृति अथवा स्मरण, प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचानना, तर्क अथवा वस्तुओं को देखकर उनके सामान्य धर्मों का ज्ञान (अगमन) तथा अनुमान (निगमन) मति–ज्ञान के अन्तर्गत ही माने गए हैं। मति–ज्ञान के लिए दर्शन का होना अत्यन्त आवश्यक है। दर्शन के विना प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि सभी ज्ञान असंभव होंगे। श्रुति–ज्ञान शब्द के श्रवण से उत्पन्न होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में ज्ञान चार स्तरों में विभाजित हैं। (१) दर्शन के द्वारा वस्तु की सत्ता का ज्ञान होता है, वह अस्पष्ट और अनिश्चित ज्ञान है। इस अनिश्चित सत्ता का दर्शन होने के वाद वस्तु के सामान्य तथा विशेष गुणों का ज्ञान होता है, इसे अवग्रह कहते हैं। (२) अवग्रह के वाद प्राणी में वस्तु को पूर्णतः जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसे ईहा कहते हैं। (३) अवग्रह से गुणों का ही ज्ञान होता है, वस्तु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai.

यह व्यक्तित्व नहीं ज्ञात होता। एक वस्तु लाल है यह ज्ञान अवग्रह से होता है परन्तु का लाल वस्तु क्या है? इसको जानने की इच्छा होने पर हम अवाय का सहारा लेते हैं। अवाय में वस्तु के सत् रूप का पता चलता है। वस्तु क्या है, क्या नहीं है इसका ज्ञान इसी तीसरे स्तर पर होता है। यही वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि वस्तु की सच्ची विशेषता, उसकी जाति, उसका दूसरों से साम्य और वैषम्य इन सब बातों का ज्ञान इसी स्तर पर होता है। (४) अवाय के बाद ज्ञान की धारणा अथवा मन में उसका संस्कार के रूप में स्थापन होता है।

आत्मा तथा इसके विषय एक दूसरे से भिन्न हैं। इन्द्रियों से साधारणतः बाह्य विषयों के तथा मन से मानसिक प्रत्यक्ष होते हैं। आत्मा की चेतना सक्रिय है जिसके कारण यह स्वयं अपना तथा अपने संपर्क में आए विषयों का ज्ञान प्रकाशित करती रहती है। किसी भी ज्ञान में विषय के ज्ञान के साथ ही साथ आत्मा का भी ज्ञान होता है। जब भी कोई ज्ञान होता है तो ज्ञाता यही कहता है कि "मैं जानता हूँ।" आत्मा को ज्ञानी कहते हैं और ज्ञान उस आत्मा में रहने वाला ऐसा धर्म है जिसे आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता परन्तु उसको अलग समझा जा सकता है। ज्ञान के बिना आत्मा संभव ही नहीं है तथा आत्मा के बिना ज्ञान असंभव है।

मति, श्रुति तथा अवधि इन तीन ज्ञानों में भ्रम संभव है परन्तु मनः पदार्थ और केवल सर्वदा भ्रम से अछूते होते हैं। पूर्णता प्राप्त आत्मा में ज्ञान और दर्शन साथ-साथ उत्पन्न होते हैं, परन्तु साधारण आत्माओं में पहले दर्शन होता है बाद में ज्ञान होता है। पूर्ण ज्ञान संशय, विमोह और विभ्रम से परे है, अपूर्ण ज्ञान में ये सब होते हैं।

जैन दर्शन में आत्मा को जीव कहते हैं। ये जीव अनन्त हैं। वास्तविक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से मुक्त होता है। परन्तु कर्म के अणुओं से उसका सत्य स्वरूप आवृत हो जाता है अतः वह सीमित ज्ञान, दर्शन आदि से युक्त दिखाई देता है। सांसारिक जीव के ज्ञान, दर्शन आदि सीमित हैं। वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं, जीव कुछ धर्मों का ही ज्ञान प्राप्त करता है और उसी को इत्थंभूत मान लेता है। पर सत्य यह है कि किसी वस्तु के सारे धर्मों का ज्ञान बद्ध जीव के लिए असंभव है। जितने धर्मों का ज्ञान होता है उन से कहीं अधिक धर्म अज्ञात हैं। परन्तु अज्ञात होने का अर्थ यह नहीं हैं कि ये हैं ही नहीं। अतः ज्ञान सर्वदा सीमित होता है, परन्तु उसमें यह संभावना बनी रहती है कि उस ज्ञान के अलावा बहुत सारे धर्मों का ज्ञान संभव है। अतः जीव का ज्ञान निश्चित नहीं है। वह सर्वदा अपूर्ण है, परन्तु उसकी अपूर्णता उसकी पूर्णता की संभावना की ओर संकेत करती है। अतएव जैन दर्शन 'संभावना' अथवा 'स्यात्' का दर्शन है। एक वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् सत् नहीं है। इसी मत को स्याद्वाद कहते हैं।

बौद्ध दर्शन में इतने मत-मतान्तर हैं कि उन सबका प्रत्यक्ष के विषय में मन्तव्य उपस्थित करना यहां संभव नहीं है। यहां केवल उन प्रमुख विचारों का संक्षिप्त उद्धरण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किया जाएगा जो प्रायः सभी मतों में गृहीत हैं।

नाम और रूप व्यक्तित्व के ये दो भाग हैं। 'नाम' मानसिक तत्वों का तथा 'रूप' भौतिक तत्वों का बोधक है। जो स्थूल है उसे रूप कहते हैं, जो सूक्ष्म है उसे नाम कहते हैं। ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं और एक दूसरे पर आधारित हैं। नाम आध्यात्मिक या आंतर धर्म है।

बौद्ध दर्शन में आत्मा को नहीं माना गया है। इसी लिए बौद्ध सिद्धांत को अनात्मवाद कहते हैं। जिसे हम आत्मा कहते हैं वह कोई एक और नित्य तत्व नहीं है। वास्तव में तथाकथित आत्मा पांच तत्वों या स्कंधों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच तत्वों से बनी आत्मा निरंतर बदलती रहती है। यह नदी की धारा की तरह है जिस में एक बूँद भी स्थिर नहीं है। प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होती आत्मा क्षणिक है।

भौतिक धर्मों को रूप कहा जाता है। मानस अनुभव को वेदना कहते हैं। यह वेदना सुख रूप, दुःख रूप और अदुःखसुख रूप की हो सकती है। इन्द्रिय से अनुभूयमान विषय के संपर्क से इसकी उत्पत्ति होती है। सभी प्रकार के प्रत्यक्षों की उत्पत्ति संज्ञा से होती है। संज्ञा में स्पष्ट ज्ञान होता है, परन्तु वेदना केवल अनुभवरूप है। चेतना को विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान विषय के संपर्क में आता है जिस से अनुभव तथा क्रिया उत्पन्न होती है। प्रत्यक्ष में वस्तु दी हुई होती है। हमारी इन्द्रियां इस वस्तु के संपर्क में आती हैं। इस संपर्क से अनुभव उत्पन्न होता है। अनुभव अस्पष्ट प्रत्यक्ष है, इसमें वस्तु का विशद ज्ञान नहीं होता। जब ये अनुभव संज्ञा में एकत्र होते हैं और उनको स्पष्ट रूप से दूसरे अनुभवों से अलग किया जा सकता है तो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। पूर्ण प्रत्यक्ष संज्ञा के द्वारा ही होता है।

बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय प्रमुख हैं। माध्यमिक संप्रदाय में परमार्थ दृष्टि से सारी सत्ता का निषेध है, अतः परमार्थतः न तो द्रष्टा है न दृश्य वस्तु। अतः प्रत्यक्ष संभव नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से ही प्रत्यक्ष की स्थिति है अतः उसका विवेचन करने की आवश्यकता का इस दर्शन में कोई अनुभव नहीं किया गया। योगाचार दर्शन में विज्ञान या चेतना को ही माना गया है और कहा गया है कि सारा अनुभव विज्ञान तथा विज्ञान के परिणामों का ही होता है। विज्ञान से अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जिस का अनुभव किया जा सके। जिसे हम प्रत्यक्ष कहते हैं वह हमारे विज्ञान तथा आलय-विज्ञान (मूल्य चेतना) में उत्पन्न परिवर्तनों का ही प्रत्यक्ष है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक यथार्थवादी संप्रदाय हैं। इनके अनुसार मन तथा बाह्य जगत् दोनों सत्य हैं। बाह्य वस्तु मन या विज्ञान पर आधारित नहीं है। इन दोनों संप्रदायों में प्रमुख भेद केवल इतना है कि वैभाषिक संप्रदाय के अनुसार बाह्य वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, परन्तु सौत्रान्तिक संप्रदाय के अनुसार बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। हम अनुमान के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस भेद के अतिरिक्त प्रायः दोनों संप्रदाय एकमत हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिङ्नाग (सौत्रान्तिक आचार्य) के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना से रहित होता है। इतना ही नहीं, इस प्रत्यक्ष को भ्रान्ति से रहित होना चाहिये। यह ज्ञान साक्षात् विषय से उत्पन्न होता है; विषय और ज्ञाता के बीच कोई मध्यस्थ नहीं रहता। कल्पना का अर्थ होता है नाम और जाति। जब वस्तु के साथ मन का संपर्क होता है तो वस्तु अपने स्पष्ट रूप में हमारे ज्ञान में भासित होती है और इस ज्ञान में हमें किसी प्रकार के नाम आदि का अभाव नहीं होता। नाम वस्तु का अपरिहार्य धर्म नहीं है, यह तो हमारी बुद्धि की देन है। जो वस्तु जैसी है उसका—बिना कुछ छोड़े या जोड़—जो ज्ञान होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। नाम वस्तु में नहीं है; हमारी बुद्धि एक वस्तु को दूसरी से अलग करने के लिए तथा व्यवहार में सुविधा के लिए एक नाम गढ़ती है, अतः नाम को प्रत्यक्ष की देन नहीं कह सकते। प्रत्यक्ष शब्द-संपर्क से रहित होता है। इसी प्रकार वस्तु किस जाति की है; यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष से नहीं होता। हम केवल वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं। वह वस्तु अपने-आप में दूसरी वस्तुओं से भिन्न है तथा उस वस्तु का अस्तित्व उसी वस्तु के उपयुक्त है। उसका अस्तित्व दूसरी वस्तुओं पर आधारित नहीं है। इसलिए वस्तु को स्वलक्षण कहा गया है। जब स्वलक्षण का प्रत्यक्ष हो जाता है तो समानता आदि के आधार पर व्यवहार में सुविधा के लिए एक-सी वस्तुओं को हम एक जाति की मान लेते हैं। यह जाति केवल मन की कल्पना है, वस्तु में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यदि जाति का वस्तु में अस्तित्व होता तो वह हमें वस्तु से पृथक् दिखाई देती। अतएव वस्तु के प्रत्यक्ष में नाम और जाति का स्थान नहीं है। नाम और जाति केवल कल्पना है। इनसे रहित वस्तु का जो प्रत्यक्ष होगा वह अस्पष्ट ही होगा। निश्चयात्मक प्रत्यक्ष वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि उसमें कल्पना का योग आवश्यक है।

प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के लिए चार बातें या प्रत्ययों की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष के लिए किसी आलंबन या विषय का होना आवश्यक है। किसी सहकारी अथवा माध्यम (जैसेः देखने के लिए प्रकाश) तथा अधिपति अथवा इन्द्रियों की भी आवश्यकता होती है। इनके रहते हुए भी जबतक पूर्वानुभव का स्मरण न हो तो प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी पूर्वानुभव के स्मरण को समनन्तर कहते हैं। इन चार प्रत्ययों के अलावा पांचवां कोई प्रत्यय नहीं है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त मनोविज्ञान, स्वसंवेदन तथा योगिप्रत्यक्ष ये भी प्रत्यक्ष के भेद हैं। इन्द्रियों के व्यापार की समाप्ति हो जाने पर जो प्रत्यक्ष होता है उसे मनोविज्ञान कहते हैं। यह प्रत्यक्ष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के तुरंत बाद होता है। मन तथा मन के धर्मों का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन कहलाता है। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों की भावना से परिपूर्ण योगी का प्रत्यक्ष वस्तु के सत्य रूप का प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष है।

(६) अद्वैत वेदान्त दर्शन

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा ही एक तत्व है। चेतना इसका धर्म नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपितु रूप है। यह आत्मा गुणों से रहित तथा सभी में रहने वाली एक सत्ता है। सर्व-व्यापिनी एकसत् आत्मा को ब्रह्म कहते हैं। संपूर्ण ज्ञान का इसी से प्रकाश होता है, आत्मा के विना ज्ञान संभव ही नहीं है। परन्तु यदि आत्मा एक है तो व्यक्तियों का ज्ञान भिन्न भिन्न क्यों होता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि एक आत्मा भी विभिन्न रूप में प्रकाशित होने के कारण भिन्न मालूम होती है, इसी से ज्ञान में भेद होता है। इस आत्मा के तीन स्वरूप माने गए हैं। अन्तःकरण के कारण आत्मा ज्ञाता का रूप धारण करता है तब उसे प्रमातृचैतन्य कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों (देखिए सांख्य दर्शन) की उपाधि से भूषित आत्मा प्रमाण या ज्ञान का रूप धारण करता है तब उसको प्रमाण चैतन्य कहते हैं,तथा ज्ञात विषय के कारण आत्मा विषय का रूप धारण करता है तो उसे विषय—चैतन्य कहते हैं। आत्मा वास्तव में एक और अद्वितीय है और यही इन्द्रियों, इन्द्रिय की वृत्तियों तथा विषयों का प्रकाशन करता है। अन्तःकरण स्वयं इन्द्रिय नहीं है परन्तु इसका आत्मा के साथ संपर्क होने पर अंतःकरण विषय का ज्ञान करता है। अंतःकरण जब विषय के आकार में परिणत होता है तो उसके परिणाम को वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियां चार प्रकार की होती हैं— १. संशय, २. निश्चय, ३. गर्व (स्वयं का ज्ञान) तथा ४. स्मरण। संशयावस्था में स्थित अंतः—करण को मन कहते हैं। निश्चयावस्थापन्न अन्तःकरण को बुद्धि कहते हैं। गर्वा—वस्थापन्न अन्तःकरण अहंकार कहलाता है तथा स्मरणावस्था का अन्तःकरण चित्त कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान का कारण यद्यपि मूलतः आत्मा है तथापि जब आत्मा अन्तःकरण की वृत्तियों से भूषित होता है तभी ज्ञान होता है। अन्तःकरण अलगहै अतः आत्मा के एक होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान भिन्न भिन्न होता है।

इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न साक्षात् ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अन्तःकरण इन्द्रियों के द्वारा विषय तक पहुँचता है और विषय के आकार में परिणत हो जाता है। जिस इन्द्रिय के द्वारा अन्तःकरण विषय तक पहुँचता है उस इन्द्रिय के ग्राह्य विषय—गुणों—का प्रत्यक्ष होता है। यदि आंख के द्वारा अंतःकरण वस्तु से संबंधित होगा तो वस्तु के रूप, रंग आदि का प्रत्यक्ष होगा। यदि विषय अति दूर हुआ अथवा अति सूक्ष्म हुआ तो अंतःकरण उस विषय का ग्रहण न करेगा। यह बतलाया गया है कि अंतःकरण का विषयाकार ग्रहण करना वृत्ति कहलाता है। विषय के कारण उत्पन्न अन्तःकरण की वृत्ति तथा आत्मा का विषय के साथ संपर्क इन दो कारणों से विषय का ज्ञान होता है। यही प्रत्यक्ष की विशेषता है। अनुमान में विषय के साथ संपर्क नहीं होता। दूसरे शब्दों में वर्तमान विषय के साथ संपर्क होने पर ही प्रत्यक्ष होता है। स्मरण आदि में विषय वर्तमान नहीं रहता।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष इन्द्रियों के कारण होता है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती। सुख, दुःख आदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य है। प्रमाण–चैतन्य तथा विषय–चैतन्य जब दोनों एक रूप के होते हैं तो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। अतएव प्रत्यक्ष में चैतन्य इन्द्रिय के योग्य तथा वर्तमान विषय से अवच्छिन्न होता है और विषय के आकार में परिणत वृत्ति से अवच्छिन्न होकर ज्ञान उत्पन्न करता है।

भ्रम में, वेदान्त के अनुसार, दो बातें होती हैं। एक तो सामने स्थित विषय (इदम्) होता है और दूसरे अविद्या (अज्ञान) आदि के द्वारा पूर्वानुभूत विषय का स्मरण होता हैं। स्मरण के कारण जो ज्ञान होता है उसको वर्तमान विषय के ज्ञान के साथ एक मानकर हम भ्रान्त प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। सामने सीप का एक टुकड़ा है, उसको देखते हैं परन्तु उसकी चमक से चांदी का स्मरण होता है। इस स्मृत(१) चांदी तथा विषय (सीप) को एक मानने पर हमें यह ज्ञान होता है कि "सामने चांदी का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है।" वास्तव में यह ज्ञान भ्रांत है क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य से प्रमाण–चैतन्य पृथक् है।

इन्द्रियों का स्वरूप

प्रत्यक्ष के विभिन्न सिद्धान्तों का अवलोकन करने से यह ज्ञान होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। ये इन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं—१. बाह्य इन्द्रियां: आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा, तथा २. आभ्यन्तर इन्द्रियां:मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त। प्रत्यक्ष का ज्ञान इन इन्द्रियों के विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत स्वरूप के बिना अधूरा रहेगा, अतः उनका यहां विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है।

बाह्य इन्द्रियां

बौद्ध दर्शन में दर्शन, श्रवण, रस–ज्ञान, स्पर्श, गंध–ज्ञान तथा मानस–ज्ञान ये छः प्रकार के प्रत्यक्ष माने गए हैं। इनमें से पहले पांच तो पांच बाह्य इन्द्रियों पर आधारित हैं परन्तु यहां मानस ज्ञान मन पर आधारित है। मन को यदि थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो पांच ज्ञान की इन्द्रियां बौद्ध दर्शन में स्वीकृत हैं। ये इन्द्रियां शरीर के विभिन्न छिद्रों में स्थित गोलक हैं। पांच इन्द्रियां विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म तत्वों से बनी हैं। ये तत्व भौतिक हैं। इनमें से नाक, जिह्वा तथा त्वचा ये तीन इन्द्रियां विषय के साथ सीधे संपर्क में आने पर ही प्रत्यक्ष उत्पन्न करती हैं अतः इन्हें प्राप्यकारी कहते हैं। आंख तथा कान विषय का दूर से ग्रहण करते हैं अतः उन्हें अप्राप्यकारी कहते हैं।

जैनों के अनुसार पांच इन्द्रियां हैं। प्रत्येक इन्द्रिय दो प्रकार की होती है। भौतिक इन्द्रिय वह इन्द्रिय है जो हमें दिखलाई देती है। इसको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इन भौतिक इन्द्रियों के पीछे इन इन्द्रियों से मिलती भावेन्द्रियां हैं जो आत्मा में स्थित

---

१. यह कथन ठीक नहीं है। अद्वैत के अनुसार भ्रान्ति के स्थल में अनिर्वचनीय भ्रान्ति विषय वस्तु की उत्पत्ति ही हुआ करती है।

संपादक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। प्रत्येक भौतिक इन्द्रिय के दो भाग होते हैं। एक भाग तो वह है जो ज्ञान का वास्तविक कारण है, जैसे आंख की पुतली; तथा दूसरा भाग वह है जो इन्द्रिय का उपकरणमात्र है—जैसे आंख की पलकें। द्रव्येन्द्रियां भावेन्द्रियों के साथ मिली होती हैं। केवल द्रव्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष संभव नहीं है जबतक उनका भावेन्द्रियों के द्वारा आत्मा से संपर्क नहीं होता। भावेन्द्रियां भौतिक जगत् को आत्मा से मिलाने की माध्यम हैं। मन नामक इन्द्रिय को जैन दर्शन में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जैन दर्शन में आत्मा को सारे शरीर में व्याप्त माना गया है। जैसे किसी कमरे में रखे दीपक का प्रकाश कमरे भर में व्याप्त रहता है उसी प्रकार शरीर के भीतर आत्मा व्याप्त रहती है। आंख अप्राप्यकारी है और शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार इन्द्रियां पुरुष के साधन हैं। ये इन्द्रियां अहंकार से उत्पन्न होती हैं। सांख्य में ग्यारह अथवा बारह इन्द्रियां मानी गई हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां तो हमें मालूम हैं। पांच कर्मेन्द्रियों की भी गणना इन्द्रियों में की गई है: वाक्, हाथ, पैर, गुदा तथा जननेन्द्रिय ये कर्मेन्द्रियां हैं। मन तथा कभी कभी बुद्धि की गणना भी इन्द्रियों में होती है। ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां जैसे दिखाई देती हैं वैसा इनका स्वरूप नहीं है। ये अहंकार से उत्पन्न हुई हैं और इनके भीतर मनोवैज्ञानिक शक्ति काम करती है। विना इस शक्ति के ये इन्द्रियां निष्क्रिय होती हैं। अतः इन्द्रियों का वास्तविक रूप मनोवैज्ञानिक है, भौतिक नहीं। ज्ञानेन्द्रियों से संवेदना होती है, कर्मेन्द्रियों से क्रिया की निष्पत्ति होती है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष की सन्निधि से प्रकृति के तीन गुणों—सत्व, रजस् तथा तमस्—में विक्षोभ उत्पन्न होता है जिससे बुद्धि की उत्पत्ति होती से। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। बुद्धि और अहंकार में तीनों गुण विद्यमान होते हैं। अहकार-निष्ठ सत्वगुण से ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति होती है। अहंकार-गत तमोगुण से पांच सूक्ष्म भूतों या तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। रजस् ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन को गति प्रदान करता है। अतएव इन्द्रियां गतिमान् होती हैं।

सांख्य के अनुसार ज्ञानेन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। ये इन्द्रियां जब अपने विषयों तक पहुँचती हैं तभी अंतःकरण में वृत्ति उत्पन्न होती है। यदि बिना विषय के संपर्क के ही प्रत्यक्ष संभव हो तो अतिदूर स्थित तथा परोक्ष विषयों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। ऐसा नहीं होता इसलिए इन्द्रियां विषय के साथ संपृक्त होने पर ही प्रत्यक्ष कराती हैं। यह संपर्क साक्षात् नहीं होता अपितु इन्द्रियों के विषयाकार में परिणत होने पर ही हो सकता है। अतः वृत्ति के द्वारा ही प्रत्यक्ष संभव है और वृत्ति इन्द्रियों की प्राप्यकारिता पर आधारित है।

न्याय दर्शन में भी पांच ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना विषय है तथा अपनी क्रिया है। एक इन्द्रिय का काम दूसरी से नहीं हो सकता। ये इन्द्रियां प्रत्यक्ष-गोचर नहीं हैं, इनके कार्य से इनकी स्थिति का अनुमान किया जाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। पांच इन्द्रियों के पांच अधिष्ठान हैं। त्वचा सारे शरीर में है, आंख पुतली में है, घ्राण नासिका-रंध्रों में है, रसना जिह्वा में है, तथा श्रवणेन्द्रिय कानों के छिद्रों में है। इन अधिष्ठानों का नाश हो जाने पर प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे पुतली के न रहने पर रंग का प्रत्यक्ष नहीं होता। इन्द्रिय अपने अधिष्ठान से पृथक् है। बौद्धों की तरह नैयायिक इन्द्रिय तथा गोलक को एक नहीं मानते। सभी इन्द्रियों की अपनी गति है। आंख, जो तेज रूप है, विषय तक पहुँचती है; त्वचा, जिह्वा तथा घ्राण अपने अधिष्ठान में ही स्थित होकर विषय का ग्रहण करते हैं। श्रवण या कान भी अपने अधिष्ठान में ही स्थित होकर शब्द की लहरियों का प्रत्यक्ष करता है। अतः इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, क्योंकि विषय के साथ संपृक्त होने पर ही उनसे प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियों की अपनी अपनी आकृति होती है। घ्राण, जिह्वा, और त्वचा अपने अधिष्ठान की जितनी आकृति वाली इन्द्रियां हैं। आंख तेज है और अपने अधिष्ठान से निकलकर जितनी दूर तक उसका प्रकाश जाता है उतनी दूरी तक के विषय को ग्रहण करती है। श्रवण आकाश रूप है। कान के छिद्रों में आकाश रहता है। अतः वे शब्द-लहरियां, जो कान में स्थित आकाश तक पहुँचती हैं, प्रत्यक्ष में आती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अलग अलग जाति की है और अलग अलग द्रव्य से बनी है। घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी से निर्मित है अतः पृथ्वी के विशेष गुण गंध का उससे प्रत्यक्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय आकाशरूप है। इससे आकाश के गुण शब्द का प्रत्यक्ष होता है। रसना जलीय इन्द्रिय है, अतः जल के विशेष गुण रस का इससे प्रत्यक्ष होता है। चक्षुरिन्द्रिय तैजस है, अतः इससे उद्भूत रूप का प्रत्यक्ष होता है। त्वचा वायवीय है, अतः वायु के विशेष गुण स्पर्श का इससे प्रत्यक्ष होता है। मीमांसा दर्शन न्याय दर्शन में प्रतिपादित इन्द्रिय के स्वरूप को स्वीकार करता है। भेद इतना ही है कि न्याय के अनुसार श्रवणेन्द्रिय आकाश ही है परन्तु मीमांसा इसको दिक् का एक भाग मानता है।

सांख्य की तरह अद्वैत वेदान्त में भी पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों तथा अन्तःकरण की स्थिति मानी गई है। सांख्य में मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण माने गए हैं परन्तु वेदान्त में एक चौथा अन्तःकरण भी स्वीकृत है जिसे चित्त कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियां पांच महाभूतों के सात्विक अंश से बनी हैं। कर्मेन्द्रियां पांच महाभूतों के राजस अंश से बनी हैं। अन्तःकरण पांच महाभूतों के सम्मिलित सात्विक अंश से निर्मित है। वेदान्त में बौद्धों के इस सिद्धान्त का खंडन किया गया है कि इन्द्रियां गोलकरूप हैं। कुछ ऐसे भी जीव हैं जिनमें कान का गोलक नहीं है फिर भी वे सुनते हैं, जैसे सांप। अतः गोलक इन्द्रिय नहीं है। वास्तव में आत्मा के विना सभी इन्द्रियां निष्फल हैं। आत्मा ही इन्द्रियों को ज्ञान के लिए प्रेरित करती है। अतः आत्मा ही मुख्य है। परन्तु इन्द्रियों की स्थिति मानना आवश्यक है, क्योंकि इनके विना प्रत्यक्ष संभव नहीं है। ये इन्द्रियां अपने स्थूल रूप में इन्द्रियां नहीं हैं। उनके पीछे शक्ति ही वास्तविक इन्द्रिय है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्तःकरण

बौद्ध दर्शन में मन का एक अलग कार्य है। जैसे इन्द्रियों आदि से विज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह मन से मनोविज्ञान उत्पन्न होता हैं। मन से ही विषय की वेदना आदि को एक रूप मिलता है। मन कोई तत्व नहीं अपितु क्रिया मात्र है।

न्याय दर्शन में मन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यद्यपि न्याय के अधिष्ठाता गौतम ने मन की इन्द्रियों में गणना नहीं की है फिर भी वात्स्यायन ने मन को एक अन्तर इन्द्रिय माना है। सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष होता है परन्तु इसमें इन्द्रियां सहायक नहीं होतीं। यह प्रत्यक्ष मन से ही होता है। मन के अतिरिक्त दूसरा अंतःकरण न्याय में नहीं माना गया है। यह अणुरूप और नित्य है। पहले इन्द्रियों का मन से संयोग होता है, फिर इन्द्रियसंयुक्त मन का आत्मा से संयोग होता है, तब प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। यदि मन कहीं अन्यत्र लगा हो तो इन्द्रिय का विषय से योग होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता। किसी विषय में दत्तचित्त व्यक्ति सामने से गुजरती चीज़ को नहीं देखता क्योंकि उसका मन उस समय आंख से संयुक्त नहीं है। मन अणुरूप है अतः एक समय में इसका संयोग एक ही इन्द्रिय से होता है जिससे एक समय में एक ही वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। जिसे हम एक साथ कई चीजों का देखना कहते हैं वह मन की तीव्रगति के कारण उत्पन्न भ्रम है। जैसे कमल की सौ पखुडियों को सूई से छेदने पर पंखुडियां एक-एक करके छिदती हैं परन्तु लगता है कि वे एक साथ ही छिद गई हैं उसी प्रकार मन यद्यपि एक-एक विषय को अलग अलग जानता है परन्तु उसकी क्रिया की तीव्रता से हमें मालूम होता है कि हम एक साथ कई विषयों को जान रहे हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष में मन का हाथ होता है। यहांतक कि स्वप्न में भी मन का आत्मा से संपर्क होता है, इसीलिए स्वप्नगत विषयों का प्रत्यक्ष होता है परन्तु वहां मन का इन्द्रियों से संपर्क नहीं रहता।

सांख्य के अनुसार मन, अहंकार और बुद्धि ये अन्तःकरण होते हैं। अन्तःकरण ही मुख्य और स्वतंत्र इन्द्रिय है क्योंकि बाह्य इन्द्रियों का व्यापार इन्हीं पर आधारित है। इन अंतःकरणों में भी बुद्धि सबसे प्रमुख है क्योंकि इसी के द्वारा अहंकार तथा मन का नियंत्रण होता है। बुद्धि से अहंकार तथा अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है। बाह्य इन्द्रियों की क्रिया में मन प्रमुख कारण है, मन की क्रिया में अहंकार कारण है तथा अहंकार की क्रिया में बुद्धि कारण है। बुद्धि के कारण ही, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, पुरुष को ज्ञान होता है, अतः बुद्धि की महत्ता सर्वविदित है। साथ ही बुद्धि में ही संस्कार रहते हैं जिनके कारण स्मरण आदि होता है। परन्तु बुद्धि अन्य अंतःकरणों तथा बाह्य इन्द्रियों के कारण ही ज्ञान उत्पन्न कर सकती है अतः दूसरी इन्द्रियों की आवश्यकता मानी गई है। अन्यथा अंधा आदमी भी देख पाता तथा बहरा आदमी सुन पाता। बुद्धि के कारण भूत, वर्तमान तथा भविष्य के विषयों का स्वभाव-निर्धारण होता है। अहंकार के कारण इन्द्रियां से प्राप्त विषय के संस्कारों को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अहंभाव में अनुस्यूत किया जाता है। मन भूत, भविष्य तथा वर्तमान विषयों को मिलाता तथा अलग करता है। ये सभी अंतःकरण भूत, भविष्य तथा वर्तमान विषयों से संबंधित हैं; बाह्य इन्द्रियां केवल वर्तमान से संबंधित हैं।

अंतःकरण के विषय में अद्वैत वेदान्त सांख्य के साथ है। भेद केवल इतना है कि अद्वैत वेदान्त में चित्त को चौथा अंतःकरण माना गया है। वास्तव में अंतःकरण एक है परन्तु विभिन्न क्रियाओं के करण इसको चार प्रकार का मानते हैं। संशय अथवा अनिश्चयावस्था को मन कहते हैं। निश्चयावस्था बुद्धि कही जाती है। अह की भावना उत्पन्न करना अहंकार का काम है। पूर्वानुभवों को याद करना चित्त का काम है।

न्याय की तरह मीमांसा में भी केवल मन को ही अंतःकरण कहा गया है। यह आणविक है अतः एक साथ एक से अधिक विषयों का इससे ज्ञान नहीं हो सकता। जैन दर्शन में मन को इन्द्रिय नहीं माना गया है। इन्द्रिय का विषय निश्चित होता है परन्तु मन का कोई निश्चित विषय नहीं है।

प्रत्यक्ष के विषय

विभिन्न इन्द्रियों के विषय निश्चित हैं। घ्राण से उद्भूत गंध का प्रत्यक्ष होता है परन्तु गंधयुक्त द्रव्य (पृथ्वी) का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। रसना से रस तथा रस की जाति का प्रत्यक्ष होता है परन्तु रसवान् द्रव्य (जल) का इससे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। श्रवण से आकाश का प्रत्यक्ष तो नहीं होता परन्तु आकाश के गुण शब्द का प्रत्यक्ष होता है। बहुत धीमे तथा तेज शब्द का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। केवल मध्यम तीव्रता वाले शब्द का ही प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से उद्भूत रूप तथा रूपवान् द्रव्य दोनों का प्रत्यक्ष होता है। साथ ही पृथकता, संख्या, संयोग, विभाग, पूर्वत्व, परत्व, सामीप्य, स्नेह, तथा द्रवत्व का भी चक्षु से ही प्रत्यक्ष होता है। विषय की क्रिया तथा जाति एवं वस्तु का समवाय संबन्ध ही प्रत्यक्ष होता है। विषय की क्रिया तथा जाति एवं वस्तु का समवाय संबन्ध भी चक्षु से जाना जाता है। त्वचा से स्पर्श तथा स्पृष्ट द्रव्य दोनों का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से जिन विषयों का प्रत्यक्ष होता है उनमें से रूप तथा रूप की जाति को छोड़ कर बाकी सब का प्रत्यक्ष भी त्वक् से हो जाता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न का प्रत्यक्ष मन से होता है। कुछ नैयायिकों के अनुसार आत्मा का भी मन से प्रत्यक्ष होता है।

सभी प्रकार के प्रत्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि विषय न तो अति सूक्ष्म हो और न अति महान्। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता तथा अति महान् होने के कारण इस समग्र ब्रह्मांड का। साथ ही, अधिक दूरी के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दूर आकाश में उड़ता पक्षी नहीं दिखाई देता। अति समीपता के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे आंख में लगा काजल अपने आपको नहीं दिखाई देता। चित्त की अस्थिरता अथवा अन्यत्र लगे होने के कारण भी प्रत्यक्ष नहीं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता। एक विषय का दूसरे विषय में छिप जाने के कारण भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे सूर्य के प्रकाश में छिपे तारों का। जब कई वस्तुएं एक में मिल जाती हैं तो वस्तुओं का अलग अलग प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे बहुत से दीपों के प्रकाश में हम यह नहीं कह सकते कि किस दीप का कौनसा प्रकाश है।

दिक् या अवकाश का प्रत्यक्ष होता है या नहीं इस पर भारतीय दर्शन में बड़ा विवाद है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार दिक् एक और नित्य है। इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। दूरी और समीपता के कारण दिक् की स्थिति का अनुमान भर होता है। परन्तु दिक् में वस्तु की स्थिति, दिशा तथा दूरी का ज्ञान आंखों तथा त्वचा से होता है। मीमांसा दर्शन भी इस बात को स्वीकार करता है। परन्तु मीमांसा में यह माना जाता है कि श्रवणेन्द्रिय से भी वस्तु की स्थिति, दिशा और दूरी का ज्ञान होता है। दिक् शब्द का विशेषण है। कान से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष में कान शब्द के द्वारा उत्पन्न लहरियों के संपर्क में आता है। शब्द का देश कान में नहीं वस्तु में है, परन्तु कान प्राप्यकारी है—कान कहीं नहीं जाता, अपितु शब्द कान के पास पहुँचता है। कानों के द्वारा इसीलिए केवल शब्द का ही प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु शब्द के देश (दिक्) का भी प्रत्यक्ष होता है। शब्द का प्रत्यक्ष होने के साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि शब्द किधर से आ रहा है तथा शब्द की उत्पत्ति का देश दूर है या समीप। दिक् के बिना हमें केवल शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें कानों के द्वारा केवल दिक् का प्रत्यक्ष होता है। जब भी दिक् का कानों से प्रत्यक्ष होगा तो वह शब्द के प्रत्यक्ष के साथ ही होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि कान से मुख्यतः शब्द का प्रत्यक्ष होता है परन्तु शब्द के विशेषण के रूप में दिक् का प्रत्यक्ष गौण रूप में होता है। मीमांसा के सिद्धांत में एक बात और ध्यान देने की है कि शब्द वस्तु से उत्पन्न होता है, परन्तु वस्तुगत शब्द का प्रत्यक्ष तबतक नहीं होता जब-तक शब्द कानों में न पहुँच जाए। अतएव कान ही वस्तुतः शब्द के प्रत्यक्ष के मुख्य देश हैं। परन्तु चूंकि शब्द के साथ-साथ उसके दिक् का भी प्रत्यक्ष होता है अतः हम भ्रमवशात् शब्द का मुख्य देश कानों को न मानकर वस्तु को मान लेते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं कि शब्द-लहरियां कान के पर्दे से टकरायें तभी प्रत्यक्ष हो। कान दूर-देश-स्थित शब्द का प्रत्यक्ष कर सकता है और करता है। देश का कान के द्वारा प्रत्यक्ष भ्रम नहीं अपितु सत्य ज्ञान है। सांख्य, योग, वेदान्त तथा महायान बौद्ध दर्शन के कुछ संप्रदायों के अनुसार दिक् हमारी बुद्धि की कल्पना-मात्र है। यह वास्तविक नहीं है। अतएव इन दर्शनों के अनुसार दिक् का प्रत्यक्ष नहीं होता।

गति के प्रत्यक्ष के बारे में भी ऐकमत्य नहीं है। प्रभाकरानुसारी मीमांसा दर्शन के अनुसार गति का साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता; संयोग और विभाग के कारण केवल अनुमान होता है। एक वस्तु जब एक देश से अलग होती है तथा दूसरे देश से संयुक्त होती है तभी हमें गति का ज्ञान होता है। हमारे प्रत्यक्ष में वस्तु का एक देश से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संयोग और दूसरे देश से विभाग ही आता है, इसके अतिरिक्त गति का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से नहीं मिलता। परन्तु कुमारिलानुसारी मीमांसा दर्शन के अनुसार संयोग और विभाग बिना गति के हो ही नहीं सकते, अतः संयोग और विभाग के साथ-साथ वस्तु की गति का भी हमें प्रत्यक्ष होता है। वैशेषिक दर्शन में भी रूपवान् तथा स्पर्शवान् द्रव्यों की गति का प्रत्यक्ष स्वीकृत है। इसका प्रत्यक्ष आंखों तथा त्वचा से होता है, अतएव हम हवा की गति जानते हैं।

अब हम काल के प्रत्यक्ष के बारे में विचार करेंगे। किसी वस्तु का जब प्रत्यक्ष होता है तो उस वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ हमें यह भी ज्ञात होता है कि वस्तु वर्तमान है। वर्तमान-काल का ज्ञान किसी इन्द्रिय-विशेष से नहीं होता अपितु इन्द्रिय-विशेष के विषय के साथ वर्तमान-कालिकता का ज्ञान हमें विशेषण के रूप में होता है। बिना वस्त के शुद्ध काल का ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि काल वस्त के विशेषण के रूप में है और विशेषण का बिना विशेष्य के ज्ञान संभव ही नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि काल स्वतंत्र सत्ता नहीं है। काल दिक् की तरह एक और नित्य है और सभी उत्पाद्यमान वस्तु का जनक तथा गतिशील वस्तओं का आश्रय है। यद्यपि काल का स्वतंत्र सत्ता के रूप में ज्ञान संभव नहीं है तथापि वस्त में परिवर्तन तथा स्थिति के द्वारा काल का प्रत्यक्ष होता है। एक के बाद दूसरी वस्तु आती है, यह हम सभी देखते हैं। इस प्रत्यक्ष में हमें केवल वस्तु का ही ज्ञान नहीं होता अपितु 'एक के बाद' इसका भी प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार 'वस्तु है', यह ज्ञान भी वस्तु के साथ वस्तु की वर्तमानकालिकता का ज्ञान साथ लिए हुए है। परन्तु बौद्ध दर्शन के अनुसार, परिवर्तन के अतिरिक्त काल स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परिवर्तन का ही नाम काल है। वस्तु के परिवर्तन का ही प्रत्यक्ष काल का प्रत्यक्ष है। काल का अलग से ही प्रत्यक्ष नहीं होता। सांख्य और वेदान्त में भी काल की वास्तविक सत्ता नहीं मानी गई है। जिसे हम काल कहते हैं वह हमारी बुद्धि की उपज है।

जाति के प्रत्यक्ष के बारे में पश्चिमी दर्शन में बड़ा विवाद है। भारतीय दर्शन में भी इस महत्वपूर्ण विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया गया है। यह सारा विवाद जाति के स्वरूप पर आधारित है। जाति क्या है? व्यक्ति का जाति से क्या संबन्ध है? इन प्रश्नों के उत्तर के बिना जाति के प्रत्यक्ष के बारे में कुछ कहना कठिन है। हम विभिन्न आदमियों को एक नाम से बतलाते हैं। राम, श्याम, मोहन आदि व्यक्ति हैं परन्तु वे सभी किसी विशेष गुण-धर्म के कारण एक माने जाते हैं। इसी धर्म को मनुष्यत्व या मनुष्य जाति कहते हैं। बौद्ध दर्शन में व्यक्ति को ही सत्य माना गया है। व्यक्ति की परिभाषा है कि वह स्वलक्षण है—उसकी अपनी विशेषता अपने आप में दूसरे से भिन्न और अतुलनीय है। अतः व्यक्ति से अलग जाति की सत्ता नहीं है। यदि कोई सत्य जाति होती तो व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी जाति का भी प्रत्यक्ष होता। परन्तु व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई जाति नहीं दिखाई देती। अतः जाति नहीं है, इसलिए जाति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। जिसे हम जाति कहते हैं वह व्यवहार में सुविधा के लिए हमारी कल्पना के द्वारा दिया सामान्य शब्द मात्र है। अतएव जाति काल्पनिक है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शनों में जाति को स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। द्रव्य, गुण तथा कर्म में जाति रहती है। यह सत्तारूप है। इसी कारण से गाय मनुष्य से भिन्न है, लाल पीत से भिन्न है तथा खाना लिखने से भिन्न है। यह जाति अनेक व्यक्तियों में रहती हुई भी एक है। व्यक्तियों के नाश से जाति का नाश नहीं होता। अतएव यह नित्य है। न्याय, वैशेषिक तथा प्रभाकरानुसारी मीमांसा दर्शन के अनुसार जाति तथा व्यक्ति में नित्य संबन्ध है, जिसे समवाय कहते हैं। भट्ट-मीमांसा के अनुसार इनका संबन्ध भेदाभेद सबन्ध है। जाति व्यक्ति से भिन्न है परन्तु व्यक्ति से अलग जाति का बोध न होने से वे दोनों अभिन्न हैं। जब हमें व्यक्ति (द्रव्य, गुण या कर्म) का प्रत्यक्ष होता है। वस्तु में समवाय संबन्ध से रहने वाली किसी अन्य वस्तु का संबन्ध एक ही इन्द्रिय से गृहीत होता है। जैन दर्शन में जाति का एक दूसरा ही रूप स्वीकृत हैं। हमें जाति का ज्ञान ही नहीं होता यदि जाति विषयगत न होती। अतः जाति सत्य है तथा विषय में रहती है। परन्तु जाति एक और नित्य सत्ता नहीं है। परन्तु एक वर्ग के व्यक्तियों में समानता दिखाई देती है। यही समानता जाति के ज्ञान का कारण है। समानता के अतिरिक्त कोई जाति नहीं है। समानता का प्रत्यक्ष होता है। रामानुज का सिद्धान्त जैनों से मिलता है।

भट्ट मीमांसा के अनुसार, बुद्धि के व्यापार का प्रत्यक्ष नहीं होता। हमें ज्ञान होता है, इस ज्ञान से हम यह अनुमान करते हैं कि बुद्धि का व्यापार हुआ होगा। परन्तु यह व्यापार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। परन्तु प्रभाकर मीमांसा के अनुसार बुद्धि का व्यापार स्वयं अपना भी प्रत्यक्ष करता है, जैसेकि आत्मा अपना तथा विषय का प्रत्यक्ष करता है। बुद्धि के व्यापार का ज्ञान करने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि स्वयं प्रकाशक है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी बुद्धि के व्यापार का प्रत्यक्ष माना गया है। यह प्रत्यक्ष आन्तर प्रत्यक्ष है तथा मन के द्वारा इसका ज्ञान होता है। जैनों तथा बौद्धों (योगाचार) के अनुसार विषय का ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया में ही बुद्धि के व्यापार का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, इसके लिए मन जैसे किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह व्यापार प्रदीप की तरह अपना तथा दूसरों का प्रत्यक्ष स्वयं करता है। सांख्य में बुद्धि के व्यापार का ज्ञान पुरुष का होता है, बुद्धि को अपने व्यापार का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण बुद्धि जड़ है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान स्वयं-प्रकाश है, अतः उसका ज्ञान अपने आप ही हो जाता है। उसके ज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञाता की आवश्यकता नहीं होती।

चार्वाक को छोड़ कर सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। किसी भी ज्ञान में एक ज्ञाता होता है और दूसरा ज्ञेय। ज्ञाता ज्ञेय के संबन्ध से ज्ञान होता है। चेतना या तो ज्ञाता का गुण है (न्याय-वैशेषिक)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

या उसका स्वरूप (सांख्य, वेदान्त)। बौद्ध दर्शन में आत्मा को नित्य तत्व नहीं माना गया है। आत्मा चेतना की धारा मात्र है। योगाचार दर्शन में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद विज्ञान के अन्तर्गत है। विज्ञान ही सत्य है; ज्ञाता और ज्ञेय इसी विज्ञान के परिणाम हैं। विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतएव जो प्रत्यक्ष होता है वह वास्तव में विज्ञान का ही प्रत्यक्ष है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुद्ध आत्मा ब्रह्म है और यह ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान की त्रिपुटी से परे है। अविद्या या अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा जीव के रूप में आती है और यही जीव ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है; ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है परन्तु अज्ञानवश हम ज्ञान को "आत्मा का ज्ञान" कहते हैं। यह आत्मा तथा जीव अभिन्न नहीं है। जाग्रत तथा स्वप्न की अवस्थाओं में तो संस्कारों के कारण जीव विषय का प्रत्यक्ष करता है परन्तु स्वप्नरहित निद्रावस्था में जीव सक्रिय नहीं होता, अत-एव विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उस अवस्था में कोई ज्ञाता है ही नहीं। आदमी जब सोकर उठता है तो कहता है कि "मैं सुख से सोया, कुछ मालूम नहीं हुआ।" इस अनुभव से सिद्ध होता है कि यद्यपि विषय नहीं था परन्तु सुख का ज्ञान उस अवस्था में भी होता रहा। यह ज्ञान जीव के कारण नहीं होता, क्योंकि जीव बिना विषय के ज्ञाता हो ही नहीं सकता। सुख का यह ज्ञान आत्मा से होता है। निद्रावस्था में स्वं-प्रकाश चैतन्य आत्मा का प्रकाश वर्तमान रहता है। यह प्रकाश विषय तथा इन्द्रियां एवं अन्तःकरणों के व्यापार से कलुषित नहीं रहता। अतएव वह शुद्ध आत्मा का ही प्रकाश है, जीव का नहीं। आत्मा ज्ञान का विषय नहीं हो सकती क्योंकि सारे ज्ञान का यही मूल कारण है। यह सर्वदा ज्ञाता है, कभी ज्ञेय नहीं बनती। उपनिषदों में भी कहा गया है कि "अरे! ज्ञाता को कौन जान सकता है?" यदि आत्मा ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों हो तो आत्मा के दो भाग मानने पड़ेंगे, परन्तु आत्मा भागहीन एक तत्व है। इसलिए साधारण संसारी व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान नहीं होता। परन्तु साक्षात्कार के द्वारा योगी लोगों को समाधि में आत्मा का ज्ञान होता है। परन्तु इस ज्ञान में भी आत्मा योगी के ज्ञान का विषय नहीं बनती। योगी अपने आप को आत्मा या ब्रह्म से एकाकार कर लेता है। अतः उसका ज्ञान "मैं आत्मा को जानता हूं" यह नहीं अपितु "मैं आत्मा (ब्रह्म) हूं" यही होता है। अतएव आत्मा विषय के रूप में कभी नहीं जानी जा सकती। इसका ज्ञान जीव का ब्रह्म के साथ ऐक्य होने से शुद्ध ज्ञाता के रूप में ही होता है। सांख्य में भी ज्ञान को आत्मा (पुरुष) का स्वरूप माना गया है, अतएव वही ज्ञेय अथवा ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। प्रकृति पुरुष से पृथक् है अतएव वही ज्ञेय हो सकती है। ज्ञाता या पुरुष का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं अपितु बुद्धि में पड़ते पुरुष के प्रतिबिंब के माध्यम से अनुमान द्वारा होता है। परन्तु योग दर्शन के अनुसार प्रातिभ ज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है। न्याय के अनुसार बुद्धि, सुख, दुःख आदि आत्मा के गुण हैं। गुणों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बतलाया गया। परन्तु हमें वस्तु के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु अभाव के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष असंभव है। तब कैसे अभाव का प्रत्यक्ष होता है? न्याय के अनुसार इसका प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्य भाव नामक छठे सन्निकर्ष से होता है। किसी वस्तु का अभाव किसी स्थान पर ही होगा, विना आधार के अभाव संभव नहीं है। कमरे में आदमी नहीं है अतः कमरा आदमी के अभाव का आधार है। आदमी का अभाव कमरे का विशेषण है। कमरा विशेष्य है। कमरा भावरूप है अतः उसका प्रत्यक्ष तो हमें हो जाता है और उसी प्रत्यक्ष के माध्यम से कमरे के विशेषण "आदमी का न होना" का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः सन्निकर्ष अभाव के प्रत्यक्ष के लिए माना गया है। किसी भी प्रकार का सामान्य प्रत्यक्ष इन छः सन्निकर्षों पर ही आधारित है। इनसे बाहर कोई भी सामान्य प्रत्यक्ष नहीं होता। कुछ मीमांसक पहले तीन ही सन्निकर्ष मानते हैं। शब्द का प्रत्यक्ष करने के लिए अलग सन्निकर्षों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि शब्द, उनके मत में, द्रव्य है गुण नहीं। द्रव्य के कारण इसका प्रत्यक्ष संयोग से ही हो जाता है। भट्ट मीमांसा तथा वेदान्त में अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता। अभाव का ज्ञान एक अलग प्रमाण से होता है जिसे अनुपलब्धि कहते हैं। वेदान्त में समवाय संबंध नहीं माना गया है अतः संयुक्त समवाय आदि चार सन्निकर्षों के स्थान पर वे तादात्म्य संबन्ध मानते हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

१. सविकल्प और निर्विकल्प

जितनी इन्द्रियां हैं उतने ही प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु इनके अलावा भी भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष के भेद माने गए हैं। यहां हम इन भेदों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत करेंगे।

प्रायः सभी प्रमुख दर्शनों में प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना गया है: निर्विकल्प प्रत्यक्ष तथा सविकल्प प्रत्यक्ष। परन्तु इनके स्वरूप के बारे में दार्शनिकों में मतभेद है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्ष के बाद विषय के स्वरूपमात्र का ज्ञान होता है। इसी को निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष में व्यक्ति तथा जाति दोनों का प्रत्यक्ष होता है परन्तु जाति और व्यक्ति का भेद स्पष्ट नहीं रहता। भेद-ज्ञान बाद में होता है। यह ज्ञान पूर्वज्ञान के कारण होता है, प्रत्यक्ष के कारण नहीं। भेद-ज्ञान को विकल्प कहते हैं, अतः यह जाति-व्यक्ति के भेद-ज्ञान से युक्त प्रत्यक्ष विषय के निर्विकल्प ज्ञान पर आधारित है। सविकल्प प्रत्यक्ष इसी निर्विकल्प प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान का विशेषण है। न्याय दर्शन में निर्विकल्प प्रत्यक्ष को नाम से रहित मानते हैं। जब पूर्वानुभव के स्मरण के कारण निर्विकल्प ज्ञान के विषय को नाम दे दिया जाता है तो वह सविकल्प हो जाता है। इन दोनों प्रत्यक्षों में विषय एक ही है। द्रव्य, गुण, कर्म, जाति का दोनों में प्रत्यक्ष होता है। भेद इतना ही है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष नाम के संबन्ध से रहित है और सविकल्प प्रत्यक्ष नाम-संयुक्त है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निर्विकल्प प्रत्यक्ष सविकल्प प्रत्यक्ष से पहले होता है। यद्यपि हमें निर्विकल्प प्रत्यक्ष का ज्ञान नहीं होता तथापि निर्विकल्प प्रत्यक्ष के उत्पन्न होते ही आदत के कारण नाम का स्मरण होने से सविकल्प प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। अतः शुद्ध निर्विकल्प ज्ञान-गोचर नहीं होता परन्तु वह सविकल्प की पृष्ठ-भूमि में वर्तमान रहता है। जब हमें कोई ऐसा नया विषय दिखाई देता है जिसका नाम पता नहीं है तो उसे हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष कह सकते हैं। नव्य न्याय के अधिष्ठाता गंगेश के अनुसार नाम, जाति आदि के संबन्ध से मुक्त विषय का प्रत्यक्ष निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है। विषय और उसकी जाति आदि का प्रत्यक्ष तो एक साथ ही होता है किन्तु हमें निर्विकल्पावस्था में उनके परस्पर संबन्ध का ज्ञान नहीं रहता। हम राम को देखते हैं और राम के मनुष्यत्व को देखते हैं लेकिन "राम मनुष्य है" यह ज्ञान हमें नहीं होता। इस ज्ञान को निर्विकल्प तथा जाति और व्यक्ति के संबन्ध-ज्ञान को सविकल्प कहते हैं। सविकल्प स-संबन्ध प्रत्यक्ष है, निर्विकल्प संबन्ध-रहित प्रत्यक्ष है। प्रभाकर मीमांसा में भी न्याय की तरह बतलाया गया है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जाति और व्यक्ति का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष एकाकार है, उसमें जाति-व्यक्ति का भेद नहीं रहता। अतएव निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भेद-रहित ज्ञान होता है और सविकल्प प्रत्यक्ष में जाति-व्यक्ति का भेदरूपेण ज्ञान होता है। कुमारिल के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष वस्तुमात्र से उत्पन्न होता है। अतः निर्विकल्प प्रत्यक्ष केवल वस्तु का होता है और यह प्रत्यक्ष नवजात बालक के जैसा होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय वैयक्तिक तथा जातीय विशेषताओं का आधार है परन्तु प्रत्यक्ष करने वाला व्यक्ति वैयक्तिक विशेषता को वैयक्तिक तथा जातीय विशेषता को जातीय रूप में नहीं जानता। वह केवल इतना जानता है कि कुछ है। इससे अधिक विशेषताओं को स्पष्ट रूप से जानने के लिए सविकल्प प्रत्यक्ष काम आता है। सांख्य में भी निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष का भेद माना गया है। वस्तु को विशेषण-विशेष्य भेद के बिना एक रूप में देखना निर्विकल्प और उस वस्तु में क्या विशेषता है तथा वह विशेषता किसकी है, यह जानना सविकल्प प्रत्यक्ष है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रियों के व्यापार से होता है परन्तु सविकल्प प्रत्यक्ष में मन का संकल्प-विकल्प काम करता है। बौद्धों के अनुसार वास्तविक प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही होता है। प्रत्यक्ष में हम केवल वस्तु को, जैसी वह अपने आप में है (स्वलक्षण), देखते हैं। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, नाम आदि वस्तु में नहीं हैं, वस्तु इनसे विलक्षण है। निर्विकल्प में इसी वस्तु का जाति आदि के बिना प्रत्यक्ष होता है। जाति, नाम आदि हमारी कल्पना से प्रसूत हैं, वस्तु के अंग नहीं हैं। अतएव उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही है। सविकल्प प्रत्यक्ष कल्पनामात्र है। शंकर भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष को मानते हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय केवल सत्ता है। इसमें घट, घटत्व आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि यदि हम वस्तु को 'घट' रूप में देखते हैं तो हमारी इन्द्रियां ही काम नहीं करतीं। यह काम मन आदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का है। अतएव सत्ता के अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञान है वह सविकल्प प्रत्यक्ष से होता है। रामानुज के अनुसार विशेषण रहित सत्ता का प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी हम विषय की विशेषताओं का प्रत्यक्ष करते हैं।

(२) अलौकिक या असाधारण प्रत्यक्ष

सामान्य प्रत्यक्ष, चाहे वह निर्विकल्प हो या सविकल्प, सन्निकर्ष पर आधारित है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सामान्य प्रत्यक्ष के अलावा भी कुछ ऐसे प्रत्यक्ष होते हैं जिनमें यथार्थ रूप में सन्निकर्ष नहीं होता। उदाहरण के लिए गाय को देख कर हमें सारी गायों का ज्ञान हो जाता है, एक जगह धुएं को देखकर हमें सारे विश्व के भूत, भविष्य और वर्तमान धुएं का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में, किसी एक व्यक्ति में रहने वाली जाति का प्रत्यक्ष होने से उस जाति के सभी व्यक्तियों का भी हमें ज्ञान होता है। यह जाति तो दूसरे सन्निकर्ष (संयुक्त समवाय) से ज्ञात होती है तथा किसी जातिमान् का ज्ञान पहले सन्निकर्ष से होता है। लेकिन उस जाति के सभी व्यक्तियों का ज्ञान किसी सन्निकर्ष से संभव नहीं है, क्योंकि सभी व्यक्ति उपस्थित नहीं हैं। इस प्रत्यक्ष से इन्कार भी नहीं किया जा सकता, अतः नव्यन्याय के अनुसार यह प्रत्यक्ष एक अलौकिक या असाधारण सन्निकर्ष पर आधारित है जिसे सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति कहते हैं। जो दार्शनिक जाति को मानते ही नहीं उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष होता ही नहीं। इसी तरह एक दूसरा भी प्रत्यक्ष होता है जिसमें हमें किसी इन्द्रिय–विशेष के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान के अलावा अन्य इन्द्रिय के विषय का भी विना उस इन्द्रिय के सन्निकर्ष के ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ हम गुलाव के फूल को दूर से देखकर कहते हैं कि "यह फूल सुगंधि वाला है।" हमारी आंख से तो फूल का सन्निकर्ष है परन्तु नाक से फूल के गंध का सन्निकर्ष नहीं है, फिर भी हम फूल के साथ उसके गंध का भी प्रत्यक्ष करते हैं। नव्य–न्याय में इसे दूसरा अलौकिक सन्निकर्ष माना गया है और इसे ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति नाम दिया गया है। प्राचीन नैयायिकों ने यद्यपि इस सन्निकर्ष को नहीं माना है तथापि उनका कहना है कि सुगंधित फूल का देखना एक ही ज्ञान है। सुगंधि तथा फूल इन दोनों प्रत्यक्षों से मिलकर यह नहीं बना है। फूल का प्रत्यक्ष आंख से होता है, सुगंधि का प्रत्यक्ष नाक से होता है। वर्तमान उदाहरण में केवल आंख से प्रत्यक्ष हो रहा है, तथापि सुगंध का स्मरण होता है और स्मृत सुगंधि एवं दृष्ट फूल इन दोनों का एकाकार अविभाज्य प्रत्यक्ष मन के द्वारा होता है। अतः यह प्रत्यक्ष है लेकिन इसकी गणना मानस प्रत्यक्ष में होनी चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार यह ज्ञान मिश्र है क्योंकि स्मृत सुगंधि तथा दृष्ट फूल दोनों सम्मिलित रूप से इस के विषय बनते हैं। यह शुद्ध प्रत्यक्ष से उत्पन्न नहीं होता। वेदान्त भी ज्ञानलक्षण को प्रत्यक्ष तथा स्मरण इन दो अंशों से युक्त ज्ञान मानता।

(३) योगज प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष के भेदों की चर्चा योगज प्रत्यक्ष की चर्चा के विना अधूरी है। चार्वाक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और मीमांसा को छोड़कर बाकी सभी भारतीय दर्शन इस प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। योगज प्रत्यक्ष योगी के ज्ञान में होता है—इसमें अतीत, अनागत तथा वर्तमान विषयों का ज्ञान बिना विषय-इन्द्रिय सन्निकर्ष के होता है। अतएव यह सामान्य प्रत्यक्ष से भिन्न है। इस प्रत्यक्ष को प्राप्त करने के लिए योग के मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है। समाधि के अंगों का अभ्यास किये बिना योगज प्रत्यक्ष असंभव है। इसको असामान्य प्रत्यक्ष की श्रेणी में नहीं गिनते, क्योंकि असामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय आदि में दोष उत्पन्न होने के कारण होता है, परन्तु योगज प्रत्यक्ष समाधिजनित शक्ति के कारण होता है। यहां स्थानाभाव के कारण हम समाधि की चर्चा नहीं करेंगे। विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत योगज प्रत्यक्ष के स्वरूप तथा उसके भेदों की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करना ही यहां संभव है।

नव्य-न्याय के अनुसार योगज प्रत्यक्ष भी एक तीसरे अलौकिक सन्निकर्ष के कारण होता है। योगी हाथ में रखे फल की तरह सारे विश्व को जानता है। उसका यह ज्ञान हमारे सामान्य प्रत्यक्ष से विलक्षण है, परन्तु है यह प्रत्यक्ष ही। इस प्रत्यक्ष का कारण इन्द्रियां नहीं हैं क्योंकि अतीत और अनागत विषयों के साथ सन्निकर्ष संभव नहीं है। अतएव योगज प्रत्यक्ष एक अलौकिक सन्निकर्ष की देन है। प्राचीन न्याय में योगज प्रत्यक्ष को अलौकिक सन्निकर्ष नहीं माना गया है परन्तु यह कहा गया है कि योग के द्वारा मनुष्य की बुद्धि पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। जैसे व्यायाम आदि के द्वारा शरीर के अवयवों का विकास होता है उसी तरह योग के द्वारा बुद्धि का विकास होता है। पूर्ण विकसित बुद्धि सर्वज्ञता का चिह्न है। अतएव योगज प्रत्यक्ष सन्निकर्ष पर आधारित नहीं अपितु मानस प्रत्यक्ष है। मीमांसकों ने योगज प्रत्यक्ष का खडन करते हुए कहा है कि योगज प्रत्यक्ष इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता। यह शुद्ध मानस प्रत्यक्ष भी नहीं है, क्योंकि तब तो योगज प्रत्यक्ष और कल्पना में कोई भेद नहीं रहेगा। यदि प्रत्यक्ष के लिए मन इन्द्रियों पर आधारित न हो तो अंधे को भी रंग का प्रत्यक्ष होना चाहिए। यह भी कहा गया है कि योग में इन्द्रियां विषय के सन्निकर्ष के बिना ही विषय का ज्ञान कर लेती हैं। परन्तु मीमांसा के अनुसार यह भी संभव नहीं है। बिना सन्निकर्ष के, कितनी भी पूर्ण इन्द्रिय क्यों न हो, प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है। यदि संभव मान भी लें तो योगज प्रत्यक्ष तथा भ्रम में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। अतः मीमांसा के अनुसार सर्वज्ञता तथा उसका साधन योगज प्रत्यक्ष दोनों संभव नहीं हैं। सांख्य तथा योग दर्शनों के अनुसार कार्य-कारण में वर्तमान रहता है अतः कोई वस्तु नयी नहीं है। कारण अव्यक्त अवस्था है और कार्य उसी वस्तु की व्यक्तावस्था। अतएव योग के द्वारा जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है और व्यक्ति समाधि में स्थित होता है तो वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष कर सकता है। कारण यह है कि अतीत वस्तु एकदम से नष्ट नहीं होती तथा अनागत कुछ नया नहीं है।[१] सब कुछ वर्तमान है परन्तु उस वर्तमान को देखने की दृष्टि सबके पास नहीं है। यह दृष्टि योग से मिलती है अतः योगी अतीत तथा अनागत को वर्तमान की तरह ही देखता है। वेदान्त तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बौद्ध दर्शनों में भी योगज प्रत्यक्ष को माना गया है। परन्तु उनका योग-मार्ग के बारे में विचार तथा योग की प्रक्रिया भिन्न हैं। जैन दर्शन के अनुसार योगज प्रत्यक्ष सीधा आत्मा के द्वारा होता है। इसमें इन्द्रिय तथा मन का कोई स्थान नहीं है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान से युक्त है परन्तु उसकी अनन्तता कर्म के मल के कारण सीमित हो गई है। योग से कर्म के मल का क्षय हो जाने पर आत्मा अपने असली रूप में आ जाती है, अतः योगी सर्वज्ञ हो जाता है। योगज प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—विकल प्रत्यक्ष अधूरा प्रत्यक्ष है और इसके दो भेद होते हैं—(१) अवधि और (२) मनःपर्याय। देश और काल की दूरी होने पर भी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, अतएव योगी एक जगह बैठे दूर-दूर की बातें जान लेता है तथा बतला सकता है कि भूतकाल में क्या हुआ था तथा भविष्य में क्या होगा। इस को अवधि ज्ञान कहते हैं। दूसरे व्यक्ति के मन की बात जान लेना मनःपर्याय से होता है। दूसरा योगज प्रत्यक्ष सकल कहलाता है। इसे केवल-ज्ञान भी कहते हैं। कर्म-मल का पूर्ण क्षय हो जाने पर आत्मा अनन्तज्ञान से युक्त हो जाती है। इस आत्मा का ज्ञान केवल-ज्ञान कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञा; स्मृति और कल्पना

प्रत्यभिज्ञा:—किसी पूर्वानुभूत वस्तु को देख कर पहचानना कि "यह वही है" प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा में भूतकाल में अनुभूत वस्तु का स्मरण होता है और वर्तमान काल में उसका प्रत्यक्ष होता हैं। भूत और वर्तमान दोनों अनुभवों को मिलाकर हमें एक नवीन अनुभव प्राप्त होता है जो न तो केवल स्मरण से मिल सकता है और न ही केवल प्रत्यक्ष से। यह प्रत्यक्ष तथा स्मरण दोनों का विचित्र सा सम्मिश्रण है। न्याय के अनुसार यह स्मरण अविभाज्य ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का ही एक रूप है, परन्तु यह साधारण प्रत्यक्ष से भिन्न है क्योंकि पूर्वानुभव इस प्रत्यक्ष का विशेषण है। हम प्रत्यभिज्ञा में वर्तमान वस्तु को भूत अनुभव के विशेषण से विशेषित देखते हैं। वस्तु तो एक ही है, जो पहले था वही वर्तमान में है। भेद केवल काल के कारण है। पहले का अनुभव भूतकाल में था, अब उसी का वर्तमान में अनुभव हो रहा है। अतः वर्तमान में हमें कुछ नया नहीं दिखाई दे रहा है, केवल उस वस्तु के भूतकालिक अनुभव का स्मरण होता है। इसी स्मरण को जब हम वर्तमान प्रत्यक्ष के साथ अविभाज्य रूप में जोड़ देते हैं तो हमें प्रत्यभिज्ञा मिलती है। इस अनुभव को हम भूत और वर्तमान अनुभवों में विभाजित नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में केवल दो ही अनुभव नहीं हैं। इन अनुभवों के तादात्म्य का भी ज्ञान निहित है। अतः एक ही वस्तु के भूत और वर्तमान अनुभवों को एक समझना प्रत्यभिज्ञा है। यह प्रत्यभिज्ञा मूलतः प्रत्यक्ष है। मीमांसा और वेदान्त में भी प्रत्यभिज्ञा का यही स्वरूप माना गया है। बौद्ध दर्शन में प्रत्यभिज्ञा वर्तमान अनुभव तथा भूत अनुभव के स्मरण का सम्मिश्रण मात्र है। अतः प्रत्यभिज्ञा को हम दो अनुभवों में विभाजित कर सकते हैं। इसमें तादात्म्य का ज्ञान भ्रममात्र है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यभिज्ञा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक अपूर्व ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष और स्मरण का विभाज्य या अविभाज्य सम्मिश्रण नहीं हो सकता क्योंकि तादात्म्य-ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से होता है और न स्मरण से। तादात्म्य ही प्रत्यभिज्ञा का मूल है। अतः तादात्म्य ज्ञान उत्पन्न करने वाली स्वतंत्र प्रत्यभिज्ञा को मानना पड़ेगा।

स्मृति:— स्मृति के बारे में सभी दार्शनिक एक मत से स्वीकार करते हैं कि स्मरण पूर्वानुभव को याद करने से होता है। बौद्धों और अन्य दार्शनिकों में केवल इतना ही भेद है कि बौद्ध लोग आत्मा की एकता को नहीं मानते अतः आत्मा का तादात्म्य उनके अनुसार स्मृति का कारण नहीं है जबकि दूसरे दार्शनिक इसको स्मृति की एक आवश्यक शर्त मानते हैं। (यहां हम कुछ ऐसी बातें ही स्मरण के बारे में कहेंगे जो सभी दर्शनों में प्राप्त हैं)। स्मृति के लिए भूतकाल में अनुभव हुआ होना चाहिए। उस अनुभव से हमारे मन में संस्कार उत्पन्न होता है। संस्कार का ज्ञान नहीं होता, यह अनुबद्ध रूप में हमारे मन में पड़ा रहता है और जब कभी कोई इसका उद्बोधक कारण उपस्थित होता है तो वह संस्कार जाग जाता है। उद्बुद्ध संस्कार के कारण जब पूर्वानुभव का ज्ञान होता है तो ज्ञाता यह समझता है कि "उसको ही भूत-काल में ऐसा अनुभव हुआ था।" जिस व्यक्ति को पूर्वानुभव हो उसी में संस्कार निहित होने चाहिएं और उद्बुद्ध संस्कार के कारण उसी व्यक्ति को स्मरण होना चाहिए। अतः स्मरण के लिए आत्मा की एकता आवश्यक है। स्मृति को संस्कार-मात्र से उत्पन्न ज्ञान कहा जाता है क्योंकि स्मृति के लिए वर्तमान में किसी प्रत्यक्ष आदि की आवश्यकता नहीं होती। केवल संस्कार की धारणा स्मृति का मूल कारण है। इसीलिए स्मृति प्रत्यभिज्ञा से भिन्न है; प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्ष होता है और उसके पूर्वानुभव का स्मरण भी होता है परन्तु स्मृति में विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। बौद्धों के दर्शन में एक आत्मा नहीं है। तथाकथित आत्मा विज्ञान की धारा है। एक विज्ञान अपने संस्कारों को दूसरे विज्ञान में निहित कर के[1] नष्ट हो जाता है। अतः आत्मा की एकता न होने पर भी विज्ञान-धारा की एकता (संतति नित्यता) मानी गयी है, जिससे स्मृति संभव है।

आत्मा से संस्कारों के मिट जाने से स्मृति संभव नहीं होती। वैसी स्थिति को विस्मृति या भूलना कहते हैं। विस्मृति के कई कारण हो सकते हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं। १. काल– बहुत दिनों के बाद संस्कार नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि बहुत पुरानी बातें याद नहीं रहतीं। २.– रोग से भी मन की धारणा-शक्ति क्षीण हो जाती है जिससे स्मृति कम हो जाती है। ३.– विपरीत ज्ञान से स्मृति नष्ट हो जाती है। क को ख समझने वाले आदमी को बतला दिया जाए कि वास्तव

---

१. दूसरा विज्ञान ही पहले विज्ञान का संस्कार है। लेखक का उपर्युक्त कथन थोड़ा विपर्यास कारक है। संपादक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में क ख नहीं है तो क को ख समझने का उसका संस्कार नष्ट हो जाएगा। अति सुख, अति दुःख, मादक द्रव्यों का सेवन, क्रोध, तथा चित्त का अन्यत्र लगा होना आदि भी विस्मृति के कारण हैं।

कल्पना:— स्मृति के लिए पूर्वानुभव का होना आवश्यक है। जितना पूर्वानुभव है उतना या उतने से कम की स्मृति होती है परन्तु स्मृति कभी पूर्वानुभव की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती। जिसका अनुभव नहीं है उसका स्मरण नहीं हो सकता। साथ ही स्मरण में एक क्रम का भी ज्ञान रहता है। किसी कविता का जब हम स्मरण करते हैं तो हमें कविता की पंक्तियां उसी क्रम में याद आती हैं जिस क्रम में हमने उन्हें पढ़ी थीं। कल्पना में यह सब कुछ भी नहीं होता। हम ऐसी वस्तुओं की कल्पना करने में स्वतंत्र हैं जिनको हमने कभी नहीं देखा। अतः इसमें कुछ याद करने की आवश्यकता नहीं है और न तो किसी क्रम की आवश्यकता है। कल्पना भूत के अनुभव के बंधन से परे स्वच्छंद मानसिक क्रिया है। फिर भी कल्पना एक दम मौलिक क्रिया नहीं है। कल्पना का मूल हमारा अनुभव है। अनुभव में प्राप्त ज्ञान को ही हम विभिन्न क्रमों में सजाकर नई नई कल्पना करते हैं। परन्तु जब कल्पना का विश्लेषण करें तो मालूम होगा कि उसके अंग अनुभूत हैं, उनका क्रम नया है। योग दर्शन में ऐसा ज्ञान जो शब्द में व्यक्त हो सकता है पर वस्तु से रहित है विकल्प कहलाता है। उदाहरण के लिए वन्ध्यापुत्र, आकाश कुसुम आदि ऐसे शब्द हैं जो वस्तु से रहित हैं फिर भी इन शब्दों से कुछ ज्ञान होता है। इन शब्दों का प्रयोग करने वाला आकाश और कुसुम इन दो पूर्वानुभूत वस्तुओं को एकत्र कर देता है। यह आकाश और कुसुम का संबन्ध केवल काल्पनिक है। परन्तु आकाश और कुसुम अलग अलग सत्य हैं।

दूषित प्रत्यक्ष

१. भ्रम भ्रम के अनेक सिद्धान्त भारतीय दर्शन में प्रतिपादित हैं। उनकी चर्चा करने का यहां अवकाश नहीं है। हम केवल भ्रम के सामान्य रूप तथा उसके कारणों की चर्चा ही यहां प्रस्तुत कर सकेंगे।

प्रत्यक्ष के बारे में अब तक जो कुछ कहा गया है वह सत् प्रत्यक्ष से ही संबन्धित है। सत् प्रत्यक्ष के अलावा कुछ ऐसे भी प्रत्यक्ष होते हैं जिन्हें हम भ्रान्त प्रत्यक्ष या भ्रम कहते हैं। भ्रम दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार के भ्रम में वस्तु जैसी अनुभूत हो रही है उसको हम वैसा ही समझते हैं। पित्त की अधिकता के कारण पीलिया रोग से ग्रस्त व्यक्ति शंख को पीला देखता है और उसे पीला ही समझता है। इस भ्रम में हमारी बुद्धि का योग नहीं है। इस प्रकार के भ्रम को अनुभूयमानारोप कहते हैं। दूसरे प्रकार के भ्रम में हम प्रत्यक्ष उपस्थित वस्तु पर स्मरण से प्राप्त वस्तु का आरोप करते हैं। रस्सी को देख कर हमें सांप का भ्रम होता है। यहां रस्सी का आंख से सन्निकर्ष होता है परन्तु रस्सी की समानता आदि के कारण हमें सांप का स्मरण हो जाता है और हम स्मरण से प्राप्त सांप को प्रत्यक्ष से प्राप्त रस्सी में आरोपित करके रस्सी को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही सांप के रूप में देखते हैं। इस प्रकार के भ्रम में हमारी बुद्धि सक्रिय रहती है। इसको स्मर्यमाणारोप कहते हैं। इसी प्रकार भ्रम के दो और भेद होते हैं। इन्द्रियज भ्रम में इन्द्रिय से प्राप्त विषयों के बारे में हमें भ्रम होता है, जैसे शंख को पीला समझना या रस्सी को सांप समझना। मानस भ्रम दूसरे प्रकार का भ्रम है जिसमें कोई विषय उपस्थित नहीं रहता, फिर भी हम उसको देखते हैं। जैसे किसी प्रेमी के विरह में व्याकुल व्यक्ति कभी-कभी भ्रमवशात् प्रेमी को अपने सामने खड़ा देखता है। इन्द्रियज भ्रम या तो इन्द्रियों के विकार से उत्पन्न होता है (जैसे—पीला शंख) या विषय के विकार से उत्पन्न होता है (जैसे स्पष्ट प्रकाश के अभाव में रस्सी को सांप समझना)। मानस भ्रम के अनेक कारण हो सकते हैं। दो वस्तुओं को सदृशता, काम, शोक, निद्रा, चिन्ता आदि के कारण मानस भ्रम उत्पन्न होता है। भ्रम वह दूषित प्रत्यक्ष है जो (१) विषय में दोष होने के कारण उत्पन्न होता है—जैसे रस्सी में सांप का भ्रम; (२) बाह्य आश्रय में दोष होने के कारण उत्पन्न होता है—जैसे चलती गाड़ी में बैठा व्यक्ति खड़ी गाड़ी को चलती देखता है; (३) माध्यम में दोष से भी भ्रम उत्पन्न होता है—जैसे अस्पष्ट प्रकाश में खंभे को आदमी समझना। (४) रोग आदि के कारण इन्द्रिय में दोष उत्पन्न होने से भी भ्रम होता है, जैसे पीलिया के रोगी को वस्तुएं पीली दिखाई देती हैं। (५) कुछ भ्रम अन्तःकरण के दोष के कारण भी उत्पन्न होते हैं—जैसे प्रेमी प्रेमिका को अपने सामने देखता है।

सभी प्रकार के भ्रमों में कुछ बातें समान रूप से मिलती हैं। भ्रम में दो भिन्न वस्तुओं को एक मान लिया जाता है। पीलापन शंख का गुण नहीं है फिर भी शंख पीला दिखाई देता है। रस्सी और सांप दो भिन्न वस्तुएं हैं पर रस्सी को ही सांप समझ लिया जाता है। सभी भ्रम जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसा समझने से होते हैं। भ्रम में दो वस्तुओं में से एक वस्तु सत् होती है और दूसरी असत्। रस्सी सत् है परन्तु सांप असत् है। सत् वस्तु को हम नहीं देखते; उसकी जगह हमें असत् वस्तु ही दिखाई देती है। सत् का निषेध (आवरण) और उसकी जगह असत् का विधान (विक्षेप) इन्द्रियज भ्रम की सबसे बड़ी विशेषता है। असत् वस्तु का स्मरण होता है और स्मृत वस्तु को हम बाह्य जगत् में स्थित समझते हैं।

यह स्मरण इन्द्रिय के सन्निकर्ष में स्थित वस्तु की सदृशता के कारण ही होता है। यदि रस्सी टेढ़ी-मेढ़ी है तो उसकी सहायता से हमें सांप का ही स्मरण होगा और हम रस्सी को सांप ही समझेंगे, मेज़ नहीं। अतएव शंकराचार्य भ्रम को स्मृतिरूप मानते हैं। इस प्रकार का इन्द्रियज भ्रम बिना किसी आधार के नहीं होता। मानस भ्रम में आधार की आवश्यकता नहीं होती। इसमें स्मृत वस्तु को बाह्य जगत् में देखा जाता है अतएव यह भ्रम इन्द्रियज भ्रम से भिन्न है। आधुनिक मनोविज्ञान में इसे हेलुसिनेशन कहते हैं।

योगाचार बौद्ध दर्शन के अनुसार बाह्य कुछ भी नहीं है; सब कुछ विज्ञान में ही रहता है। अतएव विज्ञान में स्थित वस्तु को बाह्य जगत् में स्थित समझना ही भ्रम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का कारण है। माध्यमिक बौद्ध दर्शन किसी भावात्मक वस्तु की सत्ता नहीं मानता, अतः उसके अनुसार असत् को सत् समझना भ्रम है। विज्ञानवादी भ्रम का सिद्धान्त आत्मख्याति और माध्यमिक सिद्धान्त असत्ख्याति कहलाता है। प्रभाकर मीमांसा के अनुसार भ्रम स्मृत तथा अनुभूयमान विषयों में भेद या विवेक न करने के कारण उत्पन्न होता है अतः उसके सिद्धान्त को विवेकाख्याति कहते हैं। न्याय के अनुसार अनुभूत विषय को अन्यथा(स्मृत विषय के रूप में) समझना भ्रम का मूल है, अतः उसका सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है। अद्वैत वेदान्त का भ्रम-सिद्धान्त अनिर्वचनीय-ख्यातिवाद कहलाता है। अन्यथाख्याति के अनुसार भ्रम का विषय तो इदम् अर्थात् रस्सी है और वह सत् है परन्तु वेदान्त के अनुसार भ्रम का विषय सर्प है और वह न तो सत् है, क्योंकि उसका बाध होता है, और न असत् है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष होता है। अतः विषय सत् या असत् रूप में नहीं बतलाया जा सकता, इसलिए वह अनिर्वचनीय कहलाता है। रामानुजाचार्य का सिद्धान्त सत्ख्यातिवाद कहलाता है। इसके अनुसार भ्रम में कुछ असत् नहीं है। सीप को देख कर चांदी का ज्ञान होता है, इसका अर्थ यह है कि सीप में चांदी किसी न किसी रूप में वर्तमान है।

२ स्वप्न

जब निद्रा के कारण बाह्य इन्द्रियां निश्चेष्ट हो जाती हैं और मन इन्द्रियों के द्वारा आकुलित नहीं होता तो स्वप्न उत्पन्न होता है। पूर्व के अनुभवों का संस्कार मन पर पड़ा रहता है और वे ही संस्कार निद्रा के कारण शिथिल हुए मन में उद्बुद्ध होते हैं। इन संस्कारों में अनुभव के जैसा ही क्रम नहीं होता। बिना क्रम के उनका आविर्भाव होने के कारण हम स्वप्न को नई चीज़ समझते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। इन संस्कारों के उद्बुद्ध होने पर मन उनको अपने से बाहर आरोपित करता है और इसी कारण से स्वप्न में विषय की अनुभूति सी मालूम होती है। वास्तव में स्वप्न में जो विषय दिखाई देते हैं वे सत्य नहीं हैं परन्तु न्याय के अनुसार हमारा मन उन विषयों का मानस प्रत्यक्ष करता है। वेदान्त के अनुसार स्वप्न स्मृतिरूप हैं; स्मृत संस्कारों को हम स्वप्न में देखते हैं। स्वप्न के विषय देश और काल के नियमों में नहीं बँधे होते इसीलिए वे असत् हैं। परन्तु जब-तक स्वप्न रहता है तबतक स्वप्न में सत्यता का आभास होता है। प्रभाकर मीमांसा के अनुसार यद्यपि स्वप्न पूर्वानुभूत विषयों के स्मरण से उत्पन्न होता है तथापि हमें स्मरण की क्रिया का ज्ञान नहीं होता। स्वप्न स्मृति से उत्पन्न होता है परन्तु उसको हम स्मरण न समझ कर अनुभव समझते हैं (स्मृतिप्रमोष)। सभी दार्शनिक स्वप्न को पूर्वानुभव के संस्कारों पर आधारित मानते हैं।

स्वप्न भी एक प्रकार का भ्रम है। इन्द्रियज भ्रम में तो किसी विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता परन्तु मानस भ्रम और स्वप्न दोनों में यह बात समानरूप से मिलती है कि ये दोनों इन्द्रिय-व्यापार पर आधारित नहीं हैं। भेद केवल इतना ही है कि स्वप्न निद्रावस्था में होता है जबकि मानस भ्रम जाग्रत अवस्था में।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वप्न के अनेक कारण हो सकते हैं। वात, पित्त तथा कफ इन तीन धातुओं के दोष से कुछ स्वप्न उत्पन्न होते हैं। किसी तीव्र इच्छा के कारण स्वप्न में इच्छित वस्तु दिखलाई देती है। धर्म और अधर्म के कारण भी कुछ स्वप्न होते हैं। कुछ स्वप्न ऐसे हैं जिनसे भविष्य की सूचना मिलती है। ये स्वप्न अदृष्ट के कारण होते हैं। आधुनिक फ्रायडवादी मनोविश्लेषण शास्त्र की तरह ही भारतीय दर्शन में मन के अवचेतन भाग की कल्पना की गई है जिसे संस्कार कहते हैं। सारे स्वप्न इसी संस्कार की देन हैं। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान की पद्धति विश्लेषणात्मक एवं प्रयोगात्मक है; भारतीय दर्शन की पद्धति अन्तर्दर्शन है।

३ असामान्य प्रत्यक्ष

इन्द्रियों में वात, पित्त या कफ के दोष के कारण दोष आजाते हैं जिससे इन्द्रियां अपने कार्य को ठीक-ठीक नहीं कर पातीं। इसी से उन इन्द्रियों से या तो प्रत्यक्ष ही नहीं होता और यदि प्रत्यक्ष होता है तो न्यून या अधिक होता है, या विपरीत ढंग से होता है। विभिन्न इन्द्रियों के दोष तथा उनके कारणों की विस्तारपूर्वक चर्चा चरक में मिलती है। यहां हमारा उद्देश्य केवल इतना ही बताना है कि भारतीय दर्शन में इन्द्रिय-रोगों की चर्चा है, और उन रोगों का प्रत्यक्ष पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विवेचन भी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संदर्भ-ग्रंथ

इस निबंध में निम्नलिखित पुस्तकों से सहायता ली गई है:—

१. Indian Psychology, Vol. I—Jadunath Sinha, Calcutta, 1958.
२. Indian Philosophy, Vols. I &II—S. Radhakrishnan.
३. Buddhist Psychology—Mrs. Rhys Davids.
४. Compendium of Philosophy—Aung & Rhys Davids.
5. Hindu Psychology—Akhilananda.
६. न्याय सिद्धांत मुक्तावली
७. सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
८. सांख्यतत्व कौमुदी—वाचस्पति
९. योगसूत्र—व्यासभाष्य
१०. सांख्यप्रवचन भाष्य—विज्ञानभिक्षु
११. वेदान्तपरिभाषा—धर्मराजाध्वरीन्द्र
१२. शास्त्रदीपिका—पार्थसारथि
१३. श्लोकवार्तिक—कुमारिल
१४. न्यायमंजरी—जयन्त
१५. प्रकरणपंचिका—शालिकनाथ
१६. प्रशस्तपादभाष्य
१७. भाट्टचिन्तामणि—गागा भट्ट
१८. तत्व संग्रह—शान्तरक्षित
१९. न्यायबिन्दु—धर्मकीर्ति
२०. प्रमेयकमलमार्तण्ड

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

IV

अन्तःकरण

जि. ना. मोहान्ती

'अन्तःकरण', या 'आन्तरिक इन्द्रिय' सामान्यतया मन को कहा जाता है। तथापि भारतीय मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत 'अन्तःकरण' की कल्पना में तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत 'मन' की कल्पना में महत्वपूर्ण भेद है; इसी प्रकार भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों की 'अन्तःकरण' विषयक कल्पनाओं में भी पर्याप्त अंतर है। हम प्रथम अन्तःकरण की सत्ता के लिये उपस्थित किये गये प्रमाणों का स्पष्टीकरण तथा परीक्षण करेंगे। तदनंतर अन्तःकरण के जो कार्य बतलाये गये हैं उनका समीक्षण करेंगे।

(अ.) न्याय सूत्र १.१.१६ और ३.१.१७, पर के वात्स्यायन भाष्य में तथा ब्रह्मसूत्र २.३.३२ पर के शांकर भाष्य में अन्तःकरण की एक ओर आत्मा से तथा दूसरी ओर बाह्य इन्द्रियों से अतिरिक्तता साबित करने के लिये तर्क उपस्थित किये गये हैं। वात्स्यायन के तर्क इस प्रकार हैं: प्रथम, चूंकि सुख, दुःख इत्यादि मनोवृत्तियां रूप, शब्द इत्यादि से नितान्त भिन्न हैं अतः इन मनोवृत्तियों के ज्ञान के लिये नितान्त भिन्न स्वरूप के इन्द्रिय का स्वीकार आवश्यक है। जिस तरह गंध आंखों से ग्राह्य न होने के कारण घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय से भिन्न है, या रस चक्षुरिन्द्रिय या घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य न होने के कारण रसेन्द्रिय इन इन्द्रियों से भिन्न है इसी प्रकार सुख, दुःखादि की भी बात है। सुख-दुःखादि बाह्य इन्द्रियों की कक्षा में नहीं आते अतः उनके आकलन के लिये अन्तःकरण रूप अतिरिक्त इन्द्रिय की कल्पना करना आवश्यक है। 'ज्ञानायौगपद्य' या ज्ञानों की असमान कालिकता पर से भी इस आन्तरिक इन्द्रिय का अनुमान किया जा सकता है। एक ही विषय के साथ एक ही समय अनेक इन्द्रियां संबद्ध हुई रहती हैं तथापि एक से अधिक ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते नहीं दीखते। इसकी उपपत्ति इसी कल्पना के आधार पर दी जा सकती है कि बाह्येन्द्रियों से अतिरिक्त कुछ अवान्तर कारण भी हैं जिनका इन्द्रियों के साथ संपर्क घटित होना ज्ञान के लिये आवश्यक है। जब इन्द्रियां अन्तःकरण के साथ अपने विषयों के संपर्क में आती हैं केवल तभी उनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि उक्त तर्क एक ही प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञानों (उदाहरणतः दो या अधिक चाक्षुष प्रत्यक्ष) की असमान कालिकता पर नहीं किन्तु सदृश ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों की असमान कालिकता पर ही (उदाहरणतः चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष पर) आधारित है। प्रथम प्रकार की असमान कालिकता का मन की कल्पना के बिना भी समर्थन संभव है, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय, उदाहरणतः आंखें, एक समय एक ही विषय से संबद्ध हो सकती हैं। किन्तु दूसरे प्रकार की असमान कालिकता की उपपत्ति के हेतु मन का स्वीकार आवश्यक है, क्योंकि विभिन्न इन्द्रियां एक ही समय अपने अपने विषयों से संबद्ध रह सकती हैं।

ब्रह्मसूत्र २.३.३२ पर के भाष्य में शंकराचार्य जी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि अन्तःकरण न हो तो या तो सर्वदा प्रत्यक्ष होता रहेगा या कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। (नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंगः)। सर्वदा प्रत्यक्ष होते रहने की इस लिये आपत्ति है कि इन्द्रियां विषयों से और आत्मा इन्द्रियों से संबद्ध ही रहते हैं। लेकिन यदि सभी कारण सामग्री उपस्थित रहते भी प्रत्यक्ष घटित न हो तो वह कभी घटित नहीं होगा। अतः ऐसी वस्तु की कल्पना आवश्यक है जिस के साथ संपर्क घटित होने से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है और उस के घटित न होने से प्रत्यक्ष में बाधा पहुँचती है। यहां यह समझ लेना ज़रूरी है कि वात्स्यायन का उपरिनिर्दिष्ट प्रथम तर्क अद्वैतियों को मान्य नहीं हो सकता। उनके मत में सुख और दुःख साक्षि ही हुआ करते हैं उनके ज्ञानार्थ अन्तःकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। तथापि अद्वैती अन्तःकरण का साक्षात्कार संभव मानते हैं और उपर्युक्त तर्क प्रतिपक्षियों के समाधानार्थ ही प्रस्तुत किये गये हैं। वास्तव में 'विवरण प्रमेय संग्रह' कार ने अंतःकरण के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अनुमान को पर्याप्त प्रमाण नहीं माना है। इस का कारण यह है कि ज्ञानों की क्रमिक उत्पत्ति अन्य उपायों से—उदाहरणतः आत्मा में अनुरूप सामर्थ्य की कल्पना कर— समर्थित की जा सकती है। उनके विचार में अन्तःकरण प्रत्यक्ष विषय है। लेकिन वह इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्नावस्था में भी उसका प्रत्यक्ष होता है। अन्तःकरण–प्रत्यक्षानुभव 'मेरा मन कहीं और लगा हुआ था' इस जैसे कथनों द्वारा अभिव्यक्त होता है। यह अनुभव साक्षी को ही प्राप्त हुआ करता है।

स्मृति, वाक्यार्थ ज्ञान, संशय, अनुमान तथा सभी अनिन्द्रियजन्य या प्रातिभ ज्ञान इन सब का साधन अन्तःकरण या मन ही है। इन सभी ज्ञानों की सामान्य विशेषता यह है कि ये केवल बाह्येन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं होते।

(ब) इस प्रकार अन्तःकरण की सत्यता के संबंध में यद्यपि दार्शनिकों का ऐकमत्य है तथापि उसके स्वरूप के संबंध में काफी मतभेद हैं। भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में इस संबंध में जो प्रश्न चर्चित हैं वे ये हैं:— (१) क्या अन्तःकरण इन्द्रिय है? (२) क्या एक शरीर में एक ही अन्तःकरण होता है? (३) क्या अन्तःकरण अणु परिमाण होता है या विभु? अथवा वह मध्यम परिमाण का ही हुआ करता है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(४) क्या वह अविनाशी है ? यदि हो तो किस अर्थ में ? (५) अन्तःकरण का ज्ञान के साथ क्या संबंध है ?

(१) क्या अन्तःकरण इन्द्रिय है ? नैयायिक इस प्रश्न का विध्यात्मक उत्तर देते हैं जबकि अद्वैती निषेधात्मक। इस संबंध में नैयायिकों का तर्क बाह्य ज्ञान और आन्तरिक अनुभूति इनके साम्य का आधार लेकर चलता है। चूंकि प्रत्यक्ष की परिभाषा नैयायिकों ने 'विषय और इन्द्रिय इनके संपर्क से होने वाला ज्ञान' ऐसी बतलायी है अतः यह समझा गया है कि आन्तरिक अनुभव के लिये भी इन्द्रिय की अपेक्षा है और वह इन्द्रिय अन्तःकरण है। लेकिन नैयायिकों ने इस बात का पूर्णतया विचार नहीं किया है कि बाह्य प्रत्यक्ष में यद्यपि अन्तःकरण या मन को विषयों के साथ संबद्ध होने के लिये बाह्येन्द्रियों के माध्यम की आवश्यकता होती है तथापि मन स्वयं यह माध्यम नहीं बन सकता। अतः इस माध्यम के रूप में मन इन्द्रिय नहीं हो सकता। वेदान्त–परिभाषाकार जैसे अद्वैती मनीषी—जो मन को इन्द्रिय मानने से इनकार करते हैं—प्रत्यक्ष को 'विषयेन्द्रिय संयोग से उत्पन्न ज्ञान' इस रूप में परिभाषित न कर 'साक्षात्कारात्मक ज्ञान' इस तरह परिभाषित करते हैं। इस तरीके से उपर्युक्त कठिनाई हल हो जाती है। इसके अतिरिक्त नैयायिक भी यह स्वीकार करते हैं कि उनके मत के अनुसार मन यद्यपि इन्द्रिय है तथपि बाह्य प्रत्यक्ष में, स्मृति में, अनुमान में तथा अन्यत्र वह इन्द्रिय का कार्य संपन्न नहीं करती। वेदान्त परिभाषाकार यह बतलाने से नहीं चूकते कि यदि मन इन्द्रिय माना जाय तो मन के द्वारा उत्पन्न अनुमान को भी नैयायिकों की परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा।

(२) क्या एक शरीर में एक ही अन्तःकरण होता है ? न्यायसूत्र ३. २. ५६–५६ पर के भाष्य में वात्स्यायन इस प्रश्न की चर्चा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक शरीर में पांच भिन्न भिन्न प्रकार के अन्तःकरण होते हैं ऐसा भी कुछ दार्शनिक मानते थे। वैशेषिक सूत्र ३. २. ३. पर के उपस्कार में शंकर मिश्र ने इस मत का निर्देश किया है। यह स्पष्ट है कि उक्त मत इसी कारण स्वीकार किया गया होगा कि एक ही समय विभिन्न स्वरूपों के ज्ञान— अधिक से अधिक पांच, हरेक ज्ञानेन्द्रिय से एक—घटित होना संभव है। एतदर्थ वात्स्यायन यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि एक शरीर में एक ही अन्तःकरण होना चाहिये क्योंकि अनेक ज्ञान युगपद् उत्पन्न नहीं होते ('ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः')। इसके अनंतर वे यह स्पष्ट करते हैं कि विभिन्न ज्ञानों की एक कालिक उत्पत्ति का प्रत्यक्ष जो होता है वह भ्रान्त ज्ञानों की शीघ्र घटित होनेवाली परम्परा पर आधारित है।

(३) यद्यपि अधिकांश भारतीय दार्शनिक संप्रदाय प्रत्येक शरीर में एक ही अन्तः–करण का अस्तित्व मानते हैं तथापि उसके आकार के सम्बन्ध में उनमें ऐकमत्य नहीं है। आनुषंगिक तौर पर यह उल्लेख यहां किया जा सकता है कि मन के परिमाण की चर्चा पाश्चात्य मनोविज्ञान या दर्शन में उपलब्ध नहीं होती। इस चर्चा का निस्संदेह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह आंशिक कारण होगा कि भारतीय दार्शनिकों ने, कुछ और विचारकों को छोड़, मन को जड़ अर्थात् अचेतन और भौतिक माना है। फलतः उसके आकार के संबंध में प्रश्न उठाना अर्थपूर्ण ही होगा। दार्शनिकों ने ऐसा ही प्रश्न आत्मा के संबंध में भी पूछा है। उनमें आत्मा के सर्वव्यापित्व (न्याय मत), परमाणु परिमाण (रामानुज) मध्यम परिमाण (जैन मत) आदि विचार इस संबंध में प्रचलित हैं। कुछ नैयायिक टीकाकारों तथा अनिरुद्ध के जैसे कुछ सांख्य टीकाकारों के मतानुसार अन्तःकरण अणुपरिमाण है। भाट्ट और योगमतानुसार अन्तःकरण विभु है। अद्वैती उसे मध्यम परिमाण मानते हैं।

अन्तःकरण की अणुता सिद्ध करने के हेतु प्रथम ज्ञान के अयौगपद्य का परिचित तर्क उपस्थित किया गया है। इसी आधार पर अन्तःकरण की एकता प्रस्थापित की जा चुकी है। किन्तु वह एक भी हो तो भी यदि उसका परिमाण अणु न हो तो वह एक ही समय अनेक इन्द्रियों से संबद्ध हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तःकरण की एकता ज्ञानों के अयौगपद्य का अनिवार्य साधन है अपर्याप्त कारण नहीं। अयौगपद्य की उपपत्ति के लिए आणविकता को मन की एकता में जोड़ना आवश्यक है। अणु—मन भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमशः ही संपृक्त हो सकता है। नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि अन्तःकरण को अणु नहीं मानते। लेकिन ज्ञान के अयौगपद्य का कारण वे अदृष्ट को बतलाते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अयौगपद्य का यह स्पष्टीकरण स्वीकार किया जाय तो मन का अस्तित्व ही मानने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

न्यायसूत्र ३. २. ८ में यह चर्चा की गयी है कि विभु द्रव्य गतिमान् नहीं हो सकता। विभु परिमाण वस्तु गति में असमर्थ है, और वह सभी अन्य वस्तुओं से संयुक्त ही रहती है। अतः यदि अन्तःकरण विभु हो तो वह सभी इन्द्रियों से सदा संबद्ध ही रहेगा और तब एक ही समय अनेक ज्ञान घटित होने की आपत्ति उपस्थित होगी। अन्तःकरण की अणुपरिमाणता के लिये दूसरा तर्क यह है: विश्वव्यापी अन्तःकरण इन्द्रिय के रूप से तभी कार्यक्षम होगा यदि वह शरीर से परिछिन्न हो। लेकिन न तो संपूर्ण शरीर, न उसका कोई अंश ही विभु अन्तःकरण का परिच्छेद कर सकते हैं। पूर्ण शरीर ऐसा इसलिये नहीं कर सकता कि ऐसा उसके करने पर पैर में यदि कष्ट हो तो उसका अनुभव सारे शरीर में होने लगेगा। शरीर अंशतः भी यह परिच्छेद नहीं कर सकता क्योंकि जो अंश यह कार्य करेगा वह यदि नष्ट हो जाय तो दुःख की अनुभूति ही असंभव हो जायेगी। तथापि अन्तःकरण को अणु मानकर भी यह आपत्तियां टाली नहीं जा सकतीं, यह दिखलाना आसान है। कारण अन्तःकरण यदि अणु हो तो शरीर के एक काफी बड़े हिस्से में एक ही समय कैसे दुःख का अनुभव होगा, यह समझना बहुत कठिन हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि अन्तःकरण की अणुता के लिये प्रबलतम तर्क ज्ञान का अयौगपद्य ही है।

न्याय की अणु परिमाण कल्पना के विपरीत भाट्ट और योग संप्रदाय के अनुयायी विभु परिमाण कल्पना के पुरस्कर्ता हैं। संकोच और प्रसार ये लोग अन्तःकरण वृत्तियों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में ही मानते हैं अन्तःकरण में नहीं । अन्तःकरण को ये अनंत विस्तारशील समझते हैं। इसका कारण यह है कि यह आत्मा के समान अभौतिक द्रव्य है, या परमाणुओं के समान यह किसी भी वस्तु का समवायिकारण नहीं है, या यह ज्ञान के असमवायि कारण (आत्म-मनः संयोग) का आश्रय है।

अद्वैती और पदार्थ-तत्व निरूपणकर्त्ता रघुनाथ शिरोमणि अन्तःकरण को मध्यम परिणाम मानते हैं । यदि यह विभु होता तो कोई भी व्यक्ति किसी भी समय सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता । फिर भी 'विवरण प्रमेय संग्रह' के कथनानुसार योगाभ्यास के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने अन्तःकरण को विश्वव्यापी बनाकर उसके ज़रिये सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है।

(४) क्या अन्तःकरण नित्य है? सांख्य दर्शन के अनुवर्ती अन्तःकरण को नित्य मानते हैं। लेकिन वे उसे बुद्धि से अभिन्न समझते हैं जोकि मूल प्रकृति की प्रथम विकृति है। अन्तःकरण नष्ट न होकर प्रकृति में विलीन हो जाता है। तथापि वे चेतना में, जोकि आत्मा का स्वभाव है, बुद्धि में, जोकि स्वयं अन्तःकरण का एक परिणाम है, फर्क अवश्य करते हैं।

नैयायिक भी मन को अविनाशी मानते हैं किन्तु इसी अर्थ में या इन्हीं कारणों से नहीं। उनके अनुसार मन अणु होने के कारण ही अनंत, याने निरवयव, है। ('नित्यत्वं च तस्यानाश्रितत्वात्, तस्यावयव कल्पनायां प्रमाणाभावादनाश्रितत्वमिति') —वै० सू० ३. २. २. पर शंकर मिश्र का उपस्कार देखिये)

अद्वैतियों के अनुसार ब्रह्म के सिवा और कुछ भी अविनाशी नहीं। मन भी इसका अपवाद नहीं।

(५) अन्तःकरण का ज्ञान के साथ क्या संबंध है?

सांख्य और वेदान्त मत में ज्ञान अन्तःकरण का परिणाम है और इस अर्थ में उसे अन्तःकरण का धर्म भी कहा जा सकता है। लेकिन न्याय इस बात को अस्वीकार कर देता है। कारण यह है कि जो किसी कार्य का निमित्त कारण है वह उसका समवायि कारण नहीं हो सकता ('ज्ञानगुणत्वे च कारण भाव निवृत्तिः'—न्या० सू० ३. २. १४ पर वात्स्यायन भाष्य)। मन यदि ज्ञान का समवायि द्रव्य हो तो वह ज्ञान का साधन होने के बजाय ज्ञाता ही हो जाता। ज्ञाता आत्मा मन की तुलना में स्वतंत्र ही होता है और मन आत्मा पर निर्भर होकर उससे संबद्ध ही होता है। अतः वह स्वयं ज्ञाता नहीं हो सकता। अन्तःकरण परिणाम रूप वृत्तियों का अद्वैतियों ने जो पुरस्कार किया है उसका एक कारण यह है कि उनके अनुसार ज्ञान केवल वस्तु प्रकाशक ही नहीं होता, वह वस्तु स्वरूप का आवरण करने वाले अज्ञान का निवारक भी होता है। अन्तः-करण वृत्ति ही इस आवरण-भंग का साधन है।

(क) अन्तःकरण के विभिन्न कार्यों के संबंध में भी पर्याप्त मतभेद उपलब्ध होता है। सांख्यकारिका में (का० २४, २६, ३३-३७) बुद्धि की तीन वृत्तियों का (जो सांख्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के अनुसार स्वयं अन्तःकरण ही है) निर्देश आया है। ये हैं बुद्धि, अहंकार और मन। बुद्धि का कार्य अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान, जो 'यह घट है' या 'यह वस्त्र है' जैसे वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त होता है, है। इसके भी आठ प्रकार हैं, चार वे जिनमें सत्व का आधिक्य होता है, और बाकी चार वे जिनमें तम का आधिक्य होता है। सत्व के आधिक्य से धर्म,ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इनका उदय होता है। अहकार में अभिमान, घमंड यावैयक्तिक अलगाव की भावना विद्यमान होती है। अहंकार भी तीन प्रकार के कहे जाते हैं। जिसमें सत्व का अधिवास होता है उसे वैकृत, जिसमें रज का आधिक्य होता है उसे तैजस और जिसमें तम का आधिक्य होता है उसे भूतादि ऐसे विभिन्न नामों से निर्दिष्ट किया जाता है। वैकृत अहंकार में से ग्यारह इन्द्रियां (सांख्य प्रवचन भाष्य के अनुसार ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है) उत्पन्न होती हैं। अंतिम भूतादि से पांच तन्मात्रायें उद्भूत होती हैं। दूसरा तैजस उपर्युक्त दोनों की अवस्था में सक्रिय होता है। मन का विशेष कार्य संकल्प अर्थात् प्राथमिक ज्ञान के संबंध में विचार, जिसका परिणाम विवेक है, हुआ करता है ('आलोचनमिन्द्रयेण वस्त्विमिदमिति सम्मुग्धमिदमेव नैवमिति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयति। का० २७ पर सांख्यतत्व कौमुदी देखिए)।

अद्वैती अन्तःकरण के चार पक्षों: बुद्धि, मन, चित्त और अहकार—में भेद करते हैं। इन्हीं का वृत्तियों के भेद रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। बुद्धि में निश्चयरूप कार्य हुआ करता है: वह, अमुक वस्तु ऐसी है, इस प्रकार निश्चय करती है ('इदमित्य-मेवेति विषयपरिच्छेद')। मन का स्वरूप एक ही समय विधि और निषेध दोनों का संदेह के रूप में उपस्थापन करना होता है। चित्त का कार्य स्मरण है, अहंकार का कार्य अभिमान या घमंड है। बुद्धि का विषय नयी वस्तु होती है। चित्त का पूर्वानुभूत वस्तु। दोनों ही वस्तु-ग्राहक होते हैं, अतः कुछ लोग चित्त का बुद्धि में समावेश करते हैं। मन के विषय बाह्य या आन्तरिक होते हैं। अहंकार का विषय विषय से अभिभूत आत्मा है। इन दोनों का ही स्वरूप विधिरूप होता है। अतः कुछ लोग अहंकार का मन में अन्तर्भाव करते हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि अन्तर्भाव समर्थना है नहीं क्योंकि मन का कार्य संशय है जबकि अहंकार की विशेषता संशय-रहित और आग्रहयुक्त अभिमान है।

अद्वैत में अन्तःकरण की कल्पना का द्विविध उपयोग किया जाता है, एक तत्व-शास्त्रीय और दूसरा ज्ञानमीमांसात्मक। तत्वशास्त्र में अन्तःकरण वैयक्तिक परिच्छेद का कारण—याने एक प्रकार का माध्यम, जिसमें चैतन्य उसी तरह प्रतिबिंबित होता है जैसे नदी में चंद्रमा—समझा जाता है। ज्ञानमीमांसा में यही अन्तःकरण, पहले कहे मुताबिक, व्यावहारिक ज्ञान का आधार माना जाता है। इसका महत्व इस बात में भी निहित है कि केवल अन्तःकरण वृत्ति ही ज्ञान रूप होने से अज्ञान का निरसन करने में समर्थ है। यह कार्य शुद्ध चैतन्य भी नहीं कर सकता। जैसे सूर्य की किरणें स्वयं किसी वस्तु को जला नहीं सकतीं किन्तु लेन्स के द्वारा एकत्रित की जाने पर उनमें दाहकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आती है, उसी प्रकार अन्तःकरण वृत्ति में ही अज्ञान का निरसन का सामर्थ्य सन्निहित है। यद्यपि अन्तःकरण अविद्या का ही परिणाम है तथापि सत्व के आधिक्य से इसमें पारदर्शकता आती है और वृत्तियों के द्वारा यह अज्ञान का विनाश करने में समर्थ होता है। अंत में, जिस अज्ञान से यह उत्पन्न हुआ उसी को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। ब्रैडले के विचारों के समान, अन्तःकरण अंत में आत्मघात ही कर बैठता है।

आधार ग्रन्थ

(१) न्यायसूत्र और वात्स्यायन भाष्य।
(२) सांख्यकारिका और गौडपाद भाष्य।
(३) ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य।
(४) विवरणप्रमेयसंग्रह।
(५) Six ways of knowing, by Dr. D.M. Dutta.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

V

वेदान्तीय मनोविज्ञान के कुछ पहलू

डा० अ. ग. जावडेकर,

१. पाश्चात्य मनोविज्ञान की मर्यादायें—

पश्चिम में मनोविज्ञान का उदय, जैसाकि इस शब्द के अक्षरार्थ से सूचित होता है, आत्मा के विज्ञान के रूप में हुआ। लेकिन मनोविज्ञान की इस तथाकथित शास्त्रीय कल्पना में धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक समाविष्ट हुआ प्रतीत होता था। इस कारण मनोविज्ञान बाद में चलकर मन का ही विज्ञान समझा जाने लगा। लेकिन पुरोगामी वैज्ञानिक प्रवृत्तियां मन जैसे अनिरीक्षणार्ह, अतः अवास्तविक, विषय का स्वीकार नहीं कर सकती थीं। इसलिये मनोविज्ञान का क्षेत्र निरीक्षणार्ह तथा प्रयोग से प्रमाणीकरणीय चेष्टाओं तक ही सीमित कर देना उचित माना जाने लगा। वेदान्त-दर्शन के दृष्टिकोण की तुलना में ये सब विचार संकुचित प्रतीत होंगे। इनमें से एक भी स्वयंपूर्ण, आत्मसंगत तथा निर्धारित नहीं सिद्ध हो सकता।

मनोविज्ञान के सर्वांगीण अध्ययन में बाह्य प्रकट चेष्टायें, आन्तरिक मानसिक अनुभव तथा उसका प्रकाशक तत्व आत्मा इन सब का समावेश अत्यावश्यक है। मानवीय चेष्टाओं का पूर्ण स्पष्टीकरण मन का विचार किये बिना संभव नहीं। और मनका पूर्ण स्पष्टीकरण आत्मा के विचार के बिना संभव नहीं। मानवीय चेष्टाओं का भौतिक, रासायनिक, शरीरक्रिया, जीव आदि शास्त्रों में आधिभौतिक दृष्टिकोण से विचार असंभव नहीं है। लेकिन यह विचार तबतक पर्याप्त नहीं समझा जा सकता जबतक अनुभवों का आन्तरिक रूप से विचार करने वाला मनोविज्ञान प्रस्तुत न हो। और जिस प्रकार भौतिक शास्त्र अनिवार्य रूप से अतिभौतिक शास्त्र में परिणत हो जाता है उसी प्रकार मनोविज्ञान भी अतिमानस विज्ञान तथा आत्मविद्या में परिणत हुए बिना नहीं रह सकता।

२. वेदान्तीय मनोविज्ञान की व्यापक कल्पना—

वेदान्त की मन संबंधी चर्चा केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं है; वेदान्त मन का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचार ज्ञान शास्त्र, अतिभौतिक शास्त्र तथा निकश शास्त्र इन सभी दृष्टिकोणों से करता है। यदि इन दृष्टिकोणों की उपेक्षा की जाय तो मन का अधूरा ही ज्ञान हम प्राप्त कर पायेंगे। इसके अतिरिक्त मनके संबंध में तथा सत्य के स्वरूप के संबंध में चर्चा, जो वेदान्त में की जाती है, वह केवल बौद्धिक उत्कंठा के प्रशमन के लिये ही नहीं होती, उसका एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक उद्देश्य शाश्वत सुख की प्राप्ति है। अतिभौतिक शास्त्र की भारतीय दर्शनों की विभिन्न आस्तिक तथा नास्तिक विचारधाराओं में चाहे जितनी अलग अलग कल्पनायें क्यों न प्रचलित हों, इन सब के लिये वह मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाली कला या विज्ञान अवश्य है। प्रयोग तथा प्रमापण के बिना शास्त्रीय अध्ययन कभी पूर्ण नहीं होता। लेकिन प्रयोग और प्रमापण की कल्पनायें बहुत व्यापक होनी चाहियें। प्रयोग को बाह्य तथा निरीक्षणार्ह दृश्यों तक ही सीमित कर डालना तथा प्रमापण को ऐन्द्रियिक अनुभवों तक ही मर्यादित कर देना उचित नहीं है। अनुभव के क्षेत्र का विस्तार संवेदनाओं से कहीं अधिक बड़ा है। वह अनेक प्रकार के अनुभवों को अपने में समाविष्ट करता है। इन विभिन्न अनुभवों के जरिये हम अपने ऊपर प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरणतः योग दर्शन, जिसका बतलाया हुआ साधना मार्ग वेदान्त को मान्य है, स्वयं प्रायोगिक मनोविज्ञान का ही एक संप्रदाय है। वास्तव में, यदि कोई विचार-संप्रदाय पूर्णतया और सब तरह प्रयोगाधारित है तो वह वेदान्त ही है। इस कथन की सत्यता उन सभी लोगों की समझ में उपयोगी और मान्य भी होगी जिनका मन प्रयोग की एक विशिष्ट पद्धति से ही अभिभूत नहीं है तथा अनुभव के एक विशिष्ट क्षेत्र में ही बँध नहीं गया है। ध्यानात्मक प्रयोग में तथा नीति-नियमों के सतत अभ्यास में ऐसी एक गहराई होती है जिसका एक साधक ही अनुभव प्राप्त कर सकता है। अतिभौतिक शास्त्र शाश्वत सत्य की प्राप्ति के हेतु किया गया एक अभीप्स प्रयोग ही है। यह प्रयोग पूर्णतया मनोवैज्ञानिक ही है।

३. उपयुक्त विचार पद्धति—

विचारणीय विषय तथा विचार पद्धति इनमें परम्परानुरूपता होनी चाहिये। इस अनुरूपता में विचार्य विषय को विचार पद्धति के निर्धारण में प्राथम्य देना आवश्यक है। इस प्राथम्य के सिद्धान्त को विचार्य वस्तु के द्वारा विचार पद्धति निर्धारण का सिद्धान्त कह सकते हैं। लेकिन आधुनिक विज्ञानों में बिलकुल इसके विपरीत तरीका अपनाया जाता है। इन्होंने भौतिक निष्ठ पद्धति को अवास्तव महत्व दिया है। यह पद्धति निरीक्षणाधारित अनुभववाद, वस्तुवाद तथा पारिमाणिक अनुरूपता आदि को महत्व देती है। जो बातें इस पद्धति के इन निकषों की कसौटी पर सही उतरती हैं वे ही विज्ञान के उपयुक्त तथा अध्ययनार्ह विषय माने जाते हैं। जो इन निकषों के अनुरूप नहीं होते वे या तो निरर्थक या कपोलकल्पित या केवल भावाभिव्यक्ति रूप समझे जाते हैं। ऐसी बातों में ही वस्तुशास्त्र, रहस्यवाद, धर्म, और सभी मूल्यविषयक विचारों का अन्तर्भाव किया जाता है। इस योजना के अनुसार मन का शरीर-यंत्र के अंतर्गत एक कल्पित भूत से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अधिक महत्वपूर्ण कोई स्थान नहीं है। जब मन की ही यह बात है तो आत्मा के लिये कोई सम्मानपूर्ण स्थान उक्त योजना में न होना स्वाभाविक ही है। ये सब निष्कर्ष वस्तु-सत्यों का जानबूझ कर अपलाप करने वाले तथा एक पूर्वकल्पित विचार पद्धति के द्वारा सत्य पर अत्याचार करने वाले ही मानने चाहियें। विभिन्न अनुभवों में अवगत होने वाली वस्तुओं की वास्तविक विभिन्नता के अनुरूप विचारपद्धतियों को अपनाने के बजाय एक पूर्वकल्पित विचार पद्धति के सांचे में विभिन्न वस्तुओं को बलात् बैंटाना योग्य नहीं है। इस संबंध में यह सोचना आवश्यक है कि यदि किन्हीं अनुभवगम्य वस्तुओं तथा एक पूर्वस्वीकृत विचारपद्धति में विरोध उपलब्ध होता हो तो इन दोनों में से किसका परित्याग करना चाहिये? इस प्रश्न का यही उत्तर होगा कि वस्तुओं के आगे विचार पद्धति की ही शरण जाना चाहिये। सत्य ही विचारपद्धतियों के निर्धारक हो सकते हैं। इस बात को न मानकर चलना सिर के बल चलने के समान ही होगा। वेदान्त ने उपर्युक्त स्वाभाविक तथा पक्षपातरहित विचारपद्धति को अपनाया है और मनुष्य को अच्छी तरह समझने के लिये सब प्रकार के अनुभवों के महत्व को पहिचाना है।

४. व्यक्तित्व का विश्लेषण—

मनुष्य के व्यक्तित्व के विश्लेषण की प्रक्रिया में वेदान्त ने अनुभवों के ६ स्तर माने हैं। इनमें मूल्यों की दृष्टि से नैसर्गिक श्रेणीबद्धता है। आत्मा के पांच कोषों की उत्तरोत्तर श्रेणियां: अन्नमय याने आधिभौतिक, प्राणमय याने जैविक, मनोमय याने मानसिक, विज्ञानमय याने बौद्धिक तथा आनन्दमय याने भावनात्मक, में हुआ करती हैं। मानवीय व्यक्तित्व का केन्द्रीय तथा सर्वोत्कृष्ट तत्व 'चैतन्य' है। इनमें से हरेक का स्वतंत्र और महत्वपूर्ण स्थान है। एक का दूसरे में समावेश करना दुराग्रहपूर्ण ही होगा। इस प्रकार का समावेश मानवीय अनुभवों की विभिन्नता को, जो व्यक्तित्व की इकाई का निर्माण करती हैं, कृत्रिमरूप से एक सांचे में ढाल देता है। अनुभवों के इन विभिन्न स्तरों का एक उदाहरण के द्वारा निदर्शन कर सकते हैं। शरीर की सहज (Reflex) क्रियायें आधिभौतिक होती हैं, सहज प्रवृत्तियां (Instincts) जैविक होती हैं, इच्छा मानसिक होती है, विचार या निर्णय बौद्धिक होता है, मूल्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार आन्तरिक होता है तथा सभी मूल्यों का स्रोत तथा अनुभवों का प्रकाशक तत्व आत्मा की अनुभूति हुआ करती है।

मन के संबंध में विशेषतया विचार करने पर वेदान्त में उसके अस्तित्व का समर्थन करने वाली तीन युक्तियां उपलब्ध होती हैं। एक श्रुति और स्मृति के प्रामाण्य पर आधारित है, दूसरी प्रत्यक्ष अर्थात् आन्तरिक अनुभव पर आधारित है और तीसरी अनुमान पर आधारित है। तीसरी युक्ति आत्मा और विषय को एक दूसरे के संपर्क में जानने वाले करण की कल्पना का उपयोग करती है।

इनमें पहली युक्ति की यहां चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। सभी दार्शनिक संप्रदाय अनुमान के द्वारा ही मुख्यतया मन के अस्तित्व का समर्थन करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदान्त को कणाद का यह तर्क मान्य है कि अनवधान की१ अवस्था में, जब ज्ञान के अन्य साधन–विषय, बाह्य इन्द्रियां तथा आत्मा ये सब उपस्थित होते हैं, तब प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न नहीं होता, जिससे मनोयोग की ज्ञान के लिये आवश्यकता स्वयं सिद्ध है। यदि विषय, इन्द्रिय और आत्मा ये तीन ही ज्ञान के लिये पर्याप्त होते तो इनके हमेशा ही अनिवार्य रूप से उपस्थित होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान हमेशा होता रहता। किन्तु प्रत्यक्ष का कभी उत्पन्न होना और कभी न उत्पन्न होना अनिवार्य रूप से पूर्वकल्पित करता है कि मनोयोग भी एक चौथा ज्ञान–साधन है।

लेकिन वेदान्त का अपना अलग विचार यह है कि मन सीधा प्रत्यक्षगम्य ही है। साक्षी आत्मा के लिये अन्तःकरण रूप मन प्रत्यक्षगम्य ही है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि मन के अस्तित्व का यह प्रत्यक्ष प्रमाण सभी विचारकों को मान्य हो सकता था२। किन्तु कुतर्कपूर्ण तथा कृत्रिम दार्शनिक चर्चाओं ने इस विषय को उलझा दिया है। जहां प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता वहीं सामान्यतया अनुमान का उपयोग किया जाता है। वेदान्त मन के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण को पर्याप्त और स्वयं–प्रमाण मानते हुए भी दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुमान–प्रमाण का समर्थन इसलिये करता है कि यदि वे अपने अन्तर्दर्शन या शब्द प्रमाण के विषय में संदेहपूर्ण हों तो अनुमान के जरिये वे इस संदेह का निराकरण कर सकें। यह सच है कि जो मन के संबंध में विचार ही करने के लिये उत्सुक नहीं हैं उनके लिये कोई प्रमाण उपयोगी नहीं हो सकता। लेकिन यह स्थिति इतनी विसंगतिपूर्ण है कि वह मन के अस्तित्व की ही परोक्ष रूप से समर्थक सिद्ध होती है।

६. मन का अचेतन स्वभाव—

इसके बाद हम वेदान्त को अभिमत मन के स्वरूप की कल्पना पर आते हैं। इधर भारतीय विचार समुदायों के समान किन्तु सामान्य पाश्चात्य धारणाओं के विपरीत वेदान्त मन को अचेतन या जड़ मानता है। आत्मा चैतन्य का तत्व है और वह मन से भिन्न है। विषयी स्वरूप या चेतनता आत्मा में ही होती है, मन में नहीं। आत्मा मन का आन्तरिक करण के रूप में उपयोग करता है और इसके द्वारा ही आत्मा का बाह्य विश्व के साथ संपर्क प्रस्थापित होता है। आत्मा की चेतनता निरपेक्ष है क्योंकि वह कभी किसी अनुभव का विषय नहीं होता३।

---

१. अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम्, मनसा ह्येव पश्यति, मनसा ह्येव शृणोति' (बृहदारण्यकोपनिषद् १. ५. ३)

२. देखिये—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। छान्दोग्योपनिषत् २. ४. १४. 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' और 'यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मे मनो मनम्' केनोपनिषत्।

३. देखिये—'अन्नमयं हि सोम्य मना' वैसेही छान्दोग्य वैसे ही 'पो. जिह्वात्तन्मनः' ६. ६. ५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाश्चात्य मनोविषयक कल्पनाओं में एक बहुत बड़ी विसंगति उपलब्ध होती है। इस कल्पना के अनुसार मन में चेतना होती है लेकिन यही कल्पना मन को दिमाग और नाड़ी संस्थान का कार्य या अभिव्यक्ति मात्र मानने से नहीं हिचकिचाती। इससे जड़ द्रव्य को ही चेतना का अधिष्ठान समझने की नौबत आ पड़ती है। अधिक संगत तो यह होगा कि या तो मन को जड़ द्रव्यों के समान जड़ माना जाय या उसे चेतना का केवल एक आधार मान लिया जाय जिससे जड़ द्रव्य के रूप में उसकी परिगणना न की जा सके।

वेदान्त का इस संबंध में यह विचार है कि मन जड़ होते हुए भी स्थूल द्रव्य न होकर एक अति सूक्ष्म द्रव्य ही है। इसमें आत्मा को प्रतिबिंबित करने की क्षमता होती है और इसी कारण यह चेतन जैसा दिखलाई पड़ता है। मन को भौतिक, रासायनिक, शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि विविध साधनों के कार्य के रूप में अध्ययन करना उपयुक्त ही है और उसके समर्थन में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। लेकिन यह सत्य है कि यह अध्ययन मन के स्वरूप का पूर्ण स्पष्टीकरण करने वाला नहीं माना जा सकता क्योंकि यह चेतना की उपस्थिति को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं है।

७. चार पहलू—

अन्य भारतीय दर्शनों में मन आत्मा से स्वतंत्र तत्व माना जाता है जबकि वेदान्त आत्मा की ही स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है और आत्मा से भिन्न जड़ या वस्तु विश्व को वह अज्ञान का कार्य समझता है। मन इस मूलभूत अज्ञान का एक कार्य है। स्वयंप्रकाश आत्मा को अज्ञान से परिच्छिन्न होने पर जीव का रूप प्राप्त होता है। आत्मा के इस नैसर्गिक अज्ञान का सर्वसामान्य साक्षात्कार अनुभवसिद्ध है। इससे 'मेरा' और 'दूसरे का' इस द्वैत की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार है जो मन की एक वृत्ति मात्र है। जो मूलतः चिन्मात्र होता है वह अहंकार के पारदर्शक जैसे आवरण के कारण चित्त बन जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों अवस्थाओं में चित्त आत्मा का परिच्छेदक तत्व बनता है। यह स्मृति के रूप में अतीत को धारण करता है और अपेक्षा के रूप में भविष्य की ओर उन्मुख होता है। आत्मपरिच्छेद से पर की भावना का विकास होता है। इसके लिये विश्लेषण और निर्णय इन दोनों की आवश्यकता होती है। इसका आधार बुद्धि है जो सैद्धान्तिक रूप में वस्तुविषयक ज्ञान का और व्यावहारिक रूप में आत्मपूर्णता का तत्व है। यह बुद्धि प्रामाण्य और मूल्य दोनों का अधिष्ठान है। ये विभिन्न कार्य सामूहिक रूप में 'अन्तःकरण' अर्थात् आन्तरिक इन्द्रिय के नाम से अभिहित होते हैं। अन्तःकरण एक होते हुए भी चतुर्गुण है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण के घटक हैं और इनके मुख्य कार्य क्रमशः विकल्प, अध्यवसाय, अनुभवसातत्य तथा आत्मसात्करण ये हैं।

मन के ऊपरी स्तर के नीचे वस्तुतः अनंत ज्ञान का भंडार भरा पड़ा है लेकिन अपने अचेतन स्वभाव के कारण यह ज्ञान उपयोग में नहीं आ पाता। यहां इस कल्पना की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पश्चिम की अचेतन मन की कल्पना के साथ तुलना की जा सकती है। यह मन में अनभवों का भंडार है और यह मनके वर्तमान ज्ञात अनुभवों का नियंत्रण करता रहता है। लेकिन इन दो कल्पनाओं का भूलभूत भेद यह है कि यदि पाश्चात्य विचारों के अनुसार ये संचित अनुभव वाह्य विषयां के संपर्क से मन में प्रविष्ट होते हैं तो वेदान्त के विचारों के अनुसार ये अनुभव मन में ही विद्यमान होते हैं किन्तु ये मानसिक क्रियाओं से परिच्छिन्न हुआ करते हैं। तथापि इन दोनों दृष्टिकोणों में इस संबंध में असाधारण ऐकमत्य है कि मन के निचले स्तरों में ज्ञान की पूर्णता है और मन स्वयं जड़ है। अन्तःकरण जागृति तथा स्वप्नावस्था में कार्य करता रहता है लेकिन सुषुप्ति में विषय के अभाव का, द्वैत के अभाव का भान होता है। लेकिन अज्ञान का सूक्ष्म स्तर इस अवस्था में विद्यमान ही होता है। इसकी अनुभूति का समर्थन जागृति में प्राप्त होता है।४ पाश्चात्यों ने जिन क्रियाओं को सामान्यतया मानसिक बतलाया है या जिन्हें भारतीय विचारकों ने आत्मा से संबंधित माना है उन्हें वेदान्तियों ने केवल मानसिक या केवल आत्मिक न मान कर इन दोनों के पारस्परिक और अवस्तुभूत साहचर्य या अभ्यास का परिणाम कहा है। केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही विषय रहित तथा अद्वैत रूप होता है। मन स्वयं जड़ होने के कारण कभी चेतन क्रियायें नहीं कर सकता।

८. मन इन्द्रिय नहीं—

भारतीय दर्शनों में इस प्रश्न की भी चर्चा की जाती है कि मन इतर बाह्य इन्द्रियों के जैसे एक इन्द्रिय है या नहीं। इस संबंध में उनमें मतभेद है और वेदान्तियों में भी ऐकमत्य नहीं है। यदि यह माना जाय कि प्रत्यक्ष मात्र के लिये इन्द्रिय संयोग अपेक्षित है तो मन आन्तरिक प्रत्यक्ष का इन्द्रिय सिद्ध होता है। लेकिन यह बात विचार करने पर कि बाह्य प्रत्यक्षों में भी मन साधारण कारण के रूप में आवश्यक होता ही है, मन में इन्द्रियों में विद्यमान विशेषताओं का उपस्थित होना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वेदान्तियों का मन के प्रत्यक्ष का व्यावर्तक लक्षण इन्द्रिय जन्यता न होकर साक्षात्कारिता ही है। अतः मन को इन्द्रिय मानने की जरूरत नहीं। आन्तरिक प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्ष के पूर्णतः समान नहीं होता। आन्तरिक प्रत्यक्ष के सुख, दुःखादि के जैसे विषय मनोवृत्ति रूप ही होने के कारण किसी अन्य साधन के विना ही आत्मा याने साक्षी चैतन्य को ज्ञात हो जाते हैं।

९. प्रत्यक्ष का मनोविज्ञान—

प्रात्यक्षिक ज्ञान में मन का कार्य विश्रुत ही है। आत्म चैतन्य से उद्भासित अन्तःकरण वृत्ति इन्द्रियों के मार्ग से बाहर जाकर अभिमुखावस्थित विषय का आकार ग्रहण करती है। प्रत्यक्ष प्रक्रिया का यह वर्णन नपा तुला नहीं लगता किन्तु इसमें प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में काफी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिखलाई देता है। मन और

---

४. सुखमहं अस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बाह्य विषय इनके द्वैत का पुरस्कार करने वाले सभी मतों में इन दोनों के संयोग पर आधारित प्रत्यक्ष प्रक्रिया का स्पष्टीकरण देना बड़ा कठिन हो जाता है। लेकिन वेदान्तीय स्पष्टीकरण में ऐसे किसी द्वैत का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि उसके अनुसार मन और विषय एक ही तत्व के बने होते हैं। इसके अतिरिक्त, पाश्चात्य विचारक, सामान्यतया, संवेदना को मन और इन्द्रिय इनकी क्रियाओं का परिणाम न मानकर बाह्य विषयों से उसे स्वतःप्राप्त (Received passively) ही मानते हैं। इस आधार पर प्रत्यक्ष में संवेदनाओं का संघटन कैसे होता है, यह समझना कठिन हो जाता है। इस कठिनाई का निराकरण तभी होता है जब हम मन को और उसमें प्रतिबिंबित आत्मरूप तत्व को प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का संघटक तत्व समझें। मन की स्वाभाविक अवधानात्मकता को प्रयत्नकृत और नैसर्गिक सभी प्रत्यक्षों का स्थायी घटक समझना आवश्यक है। यदि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष घटित होता हो तो इन्द्रियों का मन के नियंत्रण में रहना जरूरी है। इसके बाद मन को बाहर जाकर विषय का आकार ग्रहण करना भी जरूरी है। बाह्य पदार्थ के साथ इस प्रकार के प्रत्यक्ष सम्पर्क के बिना केवल शारीरिक परिवर्तनों के आधार पर मन के अस्तित्व का अनुमान भी संभव नहीं है। केवल वस्तुनिष्ठ पद्धति से वस्तुओं की मानसिक प्रतिकृति की उपपत्ति देना भी आसान नहीं है। इन पर से ज्ञात होता है कि कैसे मन ज्ञात वस्तुओं का आकार वास्तव में ग्रहण करता है। मन ऐसी ही बाह्य विषयों की मानसिक प्रतिकृतियों का बना होता है और इन्हींके द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय इनमें संपर्क प्रस्थापित होता है। आत्मरूप ज्ञाता में विषयाभिमुख वृत्ति का जो उदय होता है उसी को मन कह सकते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय इनके ऐक्य के बिना ज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता। ज्ञाता का विषय से घनिष्ठ परिचय होना ज्ञान के लिये नितांत आवश्यक है। यह परिचय आत्मा के द्वारा उद्भासित और बाहर जाकर विषय का आकार ग्रहण करने वाली मनोवृत्ति के द्वारा घटित होता है।

इस विषयि-विषयैक्य के संबंध की प्रक्रिया के बारे में तीन मत प्रचलित हैं—(१) अभेदाव्यक्ति का, याने आत्मा और विषय इनको अलगाने वाली उपाधियों का निवारण कर इनके ऐक्य को प्रकट करने की कल्पना का पुरस्कार करने वाला मत। (२) दूसरा मत चिदुपराग का पुरस्कर्ता है जिसके अनुसार आत्मा विषय के आकार से ईषत् प्रभावित होता है। (३) तीसरा मत आवरणाभिभव का स्वीकार करता है। इसके मुताबिक आत्मा और विषय इन दोनों के बीच अज्ञान का जो व्यवधान है उसका निराकरण प्रत्यक्ष प्रक्रिया में घटित होता है। ये तीन मत आपाततः ही भिन्न हैं। तत्वतः ये एक ही हैं। अज्ञान के आवरण के कारण ही विषय और विषयी का द्वैत रहता है अतः उसी का विनाश आवश्यक है। लेकिन अज्ञानकृत द्वैत का विनाश, इस द्वैत के आधारभूत आत्मा और विषय के ऐक्य के साक्षात्कार से ही हो सकता है। यदि विषय वास्तव में आत्मा का आकार ग्रहण करने में असमर्थ ही हो तो यह द्वैत नष्ट नहीं हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता। अतः इन तीनों मतों का इस बात पर ऐकमत्य है कि विषय और विषयी का ऐक्य अवश्य स्वीकार्य है। सभी ज्ञानों में यह तत्व समाविष्ट है। इस तत्व के अस्वीकार के कारण ही आधुनिक मनोविज्ञान तथा उससे संबंधित ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में असंख्य और अनिवार्य ऐसी कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

१०. मनस्तत्व का आध्यात्मिक महत्व—

वेदान्त की अतिभौतिक मीमांसा में तथा आध्यात्मिक साधना में मन का असामान्य महत्व है। यही वह अति सूक्ष्म किन्तु अति दृढ़ आवरण है जो नित्य, शुद्ध, मुक्त आत्मा और उससे विरुद्ध स्वभाव वाले विश्व इन दोनों के बीच में व्यवधान उपस्थित करता है। मन ही इन दोनों के बीच की कड़ी भी है जो दोनों के सदृश स्वभाव वाला भी है। पूर्णतया विषयिप्रधान वृत्ति की अवस्था में मन आत्मा के साथ एकरूप हो जाता है। लेकिन विषयाभिमुख वृत्ति इसे विश्व के विविध अनुभवों के स्तर पर नीचे खींच लाती है। चैतन्य की आनन्दमय तथा प्रशान्त स्थिति में मन के संकल्प और विकल्प ५ के कारण ही संपूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। इस मूलभूत शान्ति को प्राप्त करना ही मोक्ष है और चपलता में निमग्न होना ही संबन्ध६ है। इसीलिये दार्शनिक तथा साधु लोग आध्यात्मिक साधना के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में संयम की महान आवश्यकता पर जोर देते नहीं अघाते। मन के जरिये ही हम अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं।७

११. बुद्धि के विश्लेषणात्मक तथा निर्धारणात्मक कार्य—

अन्तःकरण का बुद्धिरूप पहलू विश्लेषण तथा निर्धारण की दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण है। जैसाकि हम ऊपर देख आये हैं, बुद्धि प्रामाण्य और मूल्यांकन इन सब का अधिष्ठान है। बुद्धि की विश्लेषणात्मक तथा निर्धारणात्मक प्रक्रियाओं के जरिये से ही सर्वोदय ज्ञान भी संभव है। बुद्धि ही नित्यानित्य हित और प्रिय व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य, और अभ्यास तथा भौतिक समृद्धि या पुष्टि और आध्यात्मिक शान्ति या तुष्टि इन सब में विवेक करने में सहायता देती है।

बुद्धि के द्वारा घटित होने वाले सभी ज्ञानों में सहजतया ही विवेक और मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया समाविष्ट होती है। यदि यह सत्य है तो केवल वस्तु विषयक ज्ञान को ही ज्ञान का वास्तविक निर्देश्य मानने की तथा सभी मूल्यनिर्माणात्मक प्रक्रियाओं को केवल भावनात्मक समझने की आधुनिक विचारकों की प्रवृत्ति स्वैर और भ्रामक ही हो सकती है।

इसके अतिरिक्त चूँकि बुद्धि का आत्मा के साथ संबंध घटित होता है अतः विज्ञान,

---

५. देखिये—संकल्पविकल्पात्मकं मनः।

६. देखिये—मन एव मनुष्याणां कारण बंधों मोक्षयोः में भी उपनिषदं।—

७. आत्मैव ह्यात्मनो बंधुः आत्मैमव रिपुरात्मनः। गीता ६-५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शन, कला, धर्म और साहित्य इत्यादि के क्षेत्र में उसकी जो निर्माणशील अभिव्यक्तियां दिखलाई पड़ती हैं उनका स्पष्टीकरण आसानी से दिया जा सकता है। यदि मन भौतिक प्रक्रियाओं का ही आनुषंगिक परिणाम हो तो मानवीय ज्ञान तथा कृति में जो निर्माण-शीलता हमें दिखलाई पड़ती है उसका कारण समझना संभव नहीं होगा। लेकिन जब हम प्रत्यक्ष में आध्यात्मिक तत्व के कार्य को देखते हैं तब हमें सृजनशीलता, स्वातन्त्र्य, मूल्य इत्यादि का मानव जीवन में जो महत्वपूर्ण स्थान है उसका प्रत्यय प्राप्त होता है। वेदान्त ने मनुष्य स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण कर मानव मात्र के लिये अत्यन्त प्रिय इन आदर्शों की श्रेष्ठता को प्रस्थापित करने में सफलता पायी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

VI

योगदर्शन का मनोविज्ञान

डा० पी. एस. शास्त्री

मनुष्य की क्षमता का विकास करने की पद्धति को 'योग' कहा जाता है। यह शरीर और मन के दोषों तथा रोगों को नष्ट कर आत्मा के वास्तविक ज्ञान को उद्भासित करने वाली बुद्धि का विकास करने का दावा करता है। योग का लक्ष्य उन दुःखों व कष्टों का निरसन करना है जो (अ) या तो मनुष्य की दुर्बलताओं तथा दुराचरणों से उत्पन्न होते हैं, या (ब)अन्य प्राणियों और उनके सम्पर्क से उद्भूत होते हैं, या(क) बाह्य विश्व और उसके संबन्ध से उत्पन्न हुआ करते हैं। यह लक्ष्य वैराग्य, संयम और समाधि इन साधनों के द्वारा क्रमशः पूर्ण किया जाता है। इसके फलस्वरूप जीव सभी सुख-दुःखों से मुक्ति पा जाता है। पुरुष को इस प्रकार के बंधन से छुटकारा पाना होता है।

प्रकृति की सभी व्यक्त तथा अव्यक्त अवस्थाओं में केवल एक ही शक्ति—जीवन शक्ति— कार्य करती रहती है। यह शक्ति पुरुष और प्रकृति इन को परस्पर संपर्क में लाकर उसके द्वारा सभी पदार्थों की सृष्टि करती है। इन्द्रियों की उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान जो संवेदन-क्षमता है वही जीवन है। जो पूर्व से ही उपस्थित है उसी की अभिव्यक्ति या विकास, यही जीवन है। अतः जीवन-शक्ति मनुष्य के सारभूत (सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर) एवं अदृश्य ऐसे तथ्यों के साथ सदा संबद्ध रहती है। जीवन में से जीवन उसी तरह प्रकट होता है जैसे प्रकाश में से दूसरा प्रकाश। मनुष्य-प्राणी आत्म-चेतन पुरुष तथा पांच प्रकार के द्रव्यों के संयोग से घटित एक शरीर का बना हुआ है। आत्मा केवल चेतनता का समुच्चय है।

पुरुष या विश्वव्यापी आत्मा स्वयं अपरिवर्तनशील है। किन्तु बुद्धि के सांचे में ढाले जाने के कारण उसमें आत्मसंवेदना प्रकट होती है। (चितेरप्रतिसंक्रमायाः तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि संवेदनम् (यो० सू० ४-२२)। आत्मा के साथ एकीभूत बुद्धि ही वह महत्वपूर्ण साधन है जो आत्म संवेदन को उत्पन्न करता है। इस बुद्धि में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। इसमें आत्मा की प्रतिच्छाया पड़ने से ही सक्रियता उत्पन्न होती है। जैसाकि योग दर्शन में कहा है—'यथा अयस्कान्तमणिः स्वस्मिन्नेव अयः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सन्निधीकरण मात्रात् दृश्य स्वरूपं उपकारं कुर्वत् पुरुषस्य स्वामिनः स्वं भवति भोग साधन-त्वात् (भाष्य १-४ पर)।' जैसे लोह चुंबक स्वयं स्थिर रहते हुए भी लोहे को अपनी ओर खींचता है वैसे ही बुद्धिगत वृत्तियां भी सिद्ध आत्मा के द्वारा आकृष्ट होती रहती हैं। यही उनके आत्मा के द्वारा उपभोग्यता का कारण है।

हरेक चेतन वृत्ति में एक स्थायी और एक अस्थायी अश होता है। अस्थायी अंश अपने घटक तत्वों के परिवर्तन के अनुसार बदलता रहता है। स्थायी अश चेतना का शुद्ध प्रकाश ही है जिस पर से बुद्धि में आत्मा के प्रतिबिंबित होने की कल्पना की जाती है। चेतना के विषयों के सभी परिवर्तनों के बावजूद यह आत्मा अपरिवर्तित ही रहा करता है। चूंकि हमारे विचार भौतिक विषयों का ही आकलन करते हैं इसलिये उनका इन विषयों के साथ मूलभूत ऐक्य रहना आवश्यक है। लेकिन पुरुष की प्रति-च्छाया इन विचारों में चैतन्य लाती है और ज्ञान का रूप देती है। इस प्रकार आत्मा और मन में आपाततः ऐक्य प्रस्थापित होता है।

जीव या वैयक्तिक आत्म तत्व वह धारक तत्व है जो स्थैर्य, वैयक्तिक सातत्य तथा एकता की अनुभूतियों का जनक है। सत्ता के आध्यात्मिक पक्ष के विपरीत उसका एक आधिभौतिक पक्ष भी हुआ करता है जिसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति गुण कहे जाने वाले तीन तत्वों का संघात है। ये गुण सत्व, रज और तम हैं जिनके कार्य क्रमशः प्रकाशन, सच्चा ज्ञान तथा नियमन हैं। मानसिक जगत् में ये गुण स्पष्टीकरण, प्रेरणा तथा आवरण का क्रमशः कार्य करते हैं। ये प्लेटो के दर्शन के अंतर्गत बुद्धि (Reason), इच्छा और भूख (Appetite) इन तीन तत्वों के अनुरूप हैं। ये क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह की अवस्थाओं में प्रकट होते हैं। सत्व आनन्द, सुख, ज्ञान, श्रद्धा, सहिष्णुता, क्षमा, धैर्य, शौर्य, एकाग्रता, नम्रता, शालीनता, समता, वैराग्य, सहानुभूति और सदाचरण आदि का कारण है। रज विवाद, पश्चात्ताप, उन्माद, क्रोध, आसक्ति, असूया, पैशुन्य, अहंकार, स्वार्थतत्परता, अत्याचार, हिंसा, वाणि-ज्य आदि की इच्छा, दुर्विचार, संदेह, निन्दा, दोषारोपण आदि का स्वभाव, असत्य, धोखेबाजी, अनिश्चायी वृत्ति, द्वेष, लापरवाही, अनियमित आचरण, कृतघ्नता, अनादर, चौर्य, प्रदर्शन, निर्लज्जता, द्यूत, कलह और इन्द्रिय-सुख, लोलुपता आदि का कारण है। तम चेतना का अभिभव तथा क्रिया का अवरोध करता है। वह आलस्य, लापरवाही, श्रम, अज्ञान, अनिश्चय, निद्रालुता, भय, दुःख, लोभ, लपटता, अश्रद्धा, घमंड, औद्धत्य आदि दुर्गुणों का जनक है। यह अविवेक, विस्मृति, कार्पण्य आदि का भी कारण है।

प्रत्येक मनुष्य सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का संघात है। सूक्ष्म शरीर, बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और पांच तन्मात्राएं इन अट्ठारह तत्वों का समाहार होता है। स्थूल शरीर पांच महाभूतों का बना रहता है। बुद्धि के कार्य विवेक, निर्धारण तथा निश्चय ये हैं। इनके अनंतर ही क्रिया होती है। अहंकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का कार्य अहंभाव या अत्याचार है। मन विषय का आकलन करता है। ये तीन—मन, अहंकार तथा बुद्धि—चित्त के तीन विभिन्न घटक हैं। चेतन प्राणी के शरीर की रचना की यह लगभग प्राथमिक अवस्था है। दूसरी अवस्था पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रियों से घटित है। ये आत्मा की बाह्य विषयों की अवधारणाओं तथा उनके प्रति प्रतिक्रियाओं के साधन हैं। ये उपभोग के भी साधन हुआ करते हैं। तीसरी अवस्था चेतन प्राणी की रचना में शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध और शब्द इन पांच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति की हुआ करती है। अंतिम अवस्था इन्द्रिय संवेदनाओं के विषय पांच महाभूत, जो बाह्य विश्व में दृष्टिगोचर होते हैं, उनसे बनी होती है।

विचार से उसका संवेद्य अंश जब अलग पड़ जाता है तब विचार अपने सामान्य तथा शुद्ध रूप में ही बना रहता है। इसी के कारण हमारी चेतन क्रियायें अर्थपूर्ण हो पाती हैं। इसी को 'सत्व' या विचार का शुद्ध रूप कहा करते हैं। यह विषय-रहित तथा आत्म रूप हुआ करता है। जैसा कि योग भाष्य (२.१९) में कहा है—'लिङ्ग मात्रं महत्तत्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महति आत्मनि'। यह केवल अस्मिता रूप होता है। यह शुद्ध आत्मा ही सत् या महत् है। यही अध्यवसाय का अधिष्ठाता मन भी कहा जाता है। इस का यह मतलब है कि बुद्धि ही कभी महत्, कभी अस्मितामात्र, कभी मन, कभी सत्व तो कभी लिङ्ग इत्यादि विभिन्न दृष्टिकोणों से देखी जा सकती है। सर्वव्यापी तथा सब वस्तुओं की उत्पत्ति के कारण के रूप में बुद्धि जब आत्मा के साथ एकता का अनुभव करती है तब वह 'अस्मिता' कही जाती है। ('दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतेव अस्मिता') वैयक्तिक तादात्म्य का अधिष्ठान जो अहंकार है वह बुद्धि की सक्रियता की प्राथमिक अभिव्यक्ति है। क्रिया का तत्व रज जब आत्मा पर हावी होता है तब पांच कर्मेन्द्रियां—वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ इनका उदय होता है। सत्व के प्रभावी होने पर पांच ज्ञानेन्द्रियों—दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन इनका उदय होता है। और रजस के प्रभाव से विविध वस्तुओं का बाह्य जगत् उत्पन्न होता है।

अहंकार अपने अंतर्गत वैविध्य तथा परिणमन के स्वरूप पांच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में प्रगट होता है। मतलब यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विभिन्न कार्य अहंकार में अधिष्ठित होते हैं। इनके विपरिणमन के फलस्वरूप विभिन्न संवेदनायें उत्पन्न होती हैं। अंततोगत्वा प्रत्येक संवेदना बाह्य विषयों के आघात के कारण होने वाला अहंकारिक परिवर्तन ही है।

लेकिन अहंकार ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों से प्रत्यक्षतया संबद्ध नहीं है। यह संबंध अहंकार से उद्भुत मन के द्वारा प्रस्थापित होता है। मन अहंकार का वह परिणाम है जो संवेदनाओं को आपस में संयुक्त कर उनका इस तरह सामान्यीकरण करता है कि उनसे सामान्य कल्पनाओं का उदय हो। योग भाष्य इस संबंध में कहता है—'निरोध धर्म संस्कारा परिणामोयं जीवनम्'। चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्यं धर्मादर्शनवर्जिताः

मन के धर्म निरोध, निर्धारण, कारणीभाव (Potentialisation), सतत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिणाम, जीवन, क्रिया और चैतन्य ये हैं। इन धर्मों में आधुनिक मनोविज्ञान सम्मत सभी मनोधर्मों का समावेश हो सकता है।

मन की एक अवस्था यथार्थ ज्ञान रूप वृत्तियों के रूप में प्रकट होती है। इन वृत्तियों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द-प्रमाण, अयथार्थ ज्ञान, कल्पना, स्मृति और निद्रा ये भी अन्तर्भूत हैं। दूसरी अवस्था वह है जिसमें ये वृत्तियां निरुद्ध होती हैं।

इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था प्रत्यक्ष की हैं। विषय के सम्पर्क में आने पर जब इन्द्रियों में परिवर्त्तन घटित होते हैं तब चित्त, जो उनके द्वारा कार्य करता है; स्वयं परिवर्तित होता है। प्रकाश के समान चित्त विषयों को व्याप्त कर उनका आकार ग्रहण करता है। चूंकि इन्द्रियों के रास्ते ही चित्त विषय तक पहुँचता है इसलिये वह इन्द्रियों के परिवर्तनों तथा मर्यादाओं से स्वयं प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जैसाकि विज्ञान भिक्षु कहते हैं (४—१७)—

'अयस्कान्त मणिवत्क्रिया एव विषया अयोवत् क्रियाशीलं चित्तं स्वमहिम्ना आकृष्य स्वस्मिन् संयोज्य तदुपरं जयंति स्वाकाराकारयंति इति लाक्षारस इव वस्त्रम् अतो येन विषयेण उपरक्तं यच्चित्तं स विषयस्तस्य ज्ञातः इत्यर्थः।'

ज्ञान के विषय स्वयं निष्क्रिय हुआ करते हैं। लेकिन लौहचुम्बक के समान वे सतत परिवर्तमान् चित्त को अपने आकार के अनुसार अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। यह बात वैसी ही है जैसे एक कपड़े के टुकड़े का मेंहदी के संबंध से लाल हो जाना। अतः जिस वस्तु के संपर्क में मन आता है उसीके आकार का वह हो जाता है। यह वस्त्वाकार प्रत्यक्षवाद का ही एक नमूना है। चेतन अनुभवों का संघटित रूप ही चित्त है। उसका व्यवच्छेदक स्वरूप चैतन्य है। चित्त अपने चारों ओर की स्थिति को जानने और प्रभावित करने में समर्थ होता है। उसकी प्रक्रियायें ज्ञात हो सकती हैं और अज्ञात भी। ज्ञात प्रक्रियाओं में संवेदनाओं की सभी प्रक्रियाओं तथा ज्ञात भावनाओं का समावेश होता है। अज्ञात प्रक्रियायें मन के निम्न स्तर पर होती हैं और वे अवचेतन होती हैं।

उसके कार्यों के अनुसार चित्त का विचार बुद्धि, अहंकार और मन तीन विभागों में किया जाता है। बुद्धि साक्षात्कार का साधन है। उससे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। सामान्यीकरण, निर्धारण तथा निश्चय भी उसीके परिणाम हैं। यही सद्गुण, वैराग्य, प्रज्ञा आदि का आधार है। उसकी अभिव्यक्ति अध्यवसाय, विचार तथा प्रयत्न के लिये विनिश्चय, सामान्य कल्पनाओं के सृजन तथा धारणा इनके द्वारा होती है।

अहंकार, मन और इन्द्रियां इनके द्वारा घटित होने वाली सभी का ज्ञान, भावना, प्रयत्न इनसे संबंधित क्रियाओं के संदर्भ में चित्त का ही कार्य अंतिम हुआ करता है। ज्ञान, भावना, इच्छा, निर्धारण आदि का यही मुख्य आधार होता है। मन ज्ञान-विषय वस्तुओं का आकलन करता है; बुद्धि वस्तु का विश्लेषण करती है तथा उसका निर्धारण तथा प्रत्यभिज्ञान भी करती है। मनन में मन ज्ञान विषयों का उद्बोध करता है तो बुद्धि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनका चिन्तन करती है।

अहंकार सहज प्रवृत्तियों तथा आवेगों का, जिनमें सुख-दुःखादि अनुभूतियों का प्राधान्य होता है—महान भंडार है। यह सभी अनुभवों का आगार है। यही वैयक्तिक चेतना या आत्मता की प्रथम अभिव्यक्ति है। ज्ञान के कारण अवधान की एकाग्रता तथा बुद्धिपूर्वक अनुभूति संपन्न होते हैं। यह आत्मानुभव तथा कल्पना (Ideation) का अधिष्ठान है। सभी आन्तरिक अनुभवों का यह चेतन ज्ञाता है। यही व्यक्तीकृत आत्मा भी है।

मन उन ज्ञान की प्रक्रियाओं का संस्थान है जो वस्तुओं के परस्पर संबंधों के आकलन की तथा मानसिक प्रक्रियाओं को संपन्न करने की क्षमता रखता है। यह बुद्धि-पूर्वक तथा जिम्मेदारी से किये गये क्रियाकलापों का अधिष्ठान है। इसके कारण विचार की प्रक्रिया (Rationalisation) संपन्न होती है। मन वह भौतिक शक्ति है जो चेतना को अभिभूत या आवृत करती है। यही प्रक्रियाओं की दिग्दर्शक भी है। यह इच्छाओं का आधार होकर ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साहचर्य से कार्य करता है। इसमें अवधान, चयन तथा निरसन (Rejection) की सामर्थ्य होती है। यही विशकलित प्रमेयों का संश्लेषण करता है। यह प्रत्यक्ष कर सकता है किन्तु बुद्धि के समान विचार नहीं कर सकता। इसमें ग्रहण का सामर्थ्य होते हुए भी ज्ञान के आत्मसात्करण की क्षमता नहीं होती! ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के बीच इसका स्थान संकलनकारी इन्द्रिय का है। यह प्रत्यक्ष तथा प्रत्यभिज्ञान का आन्तरिक इन्द्रिय है। यह विचार, तर्क, कल्पना, विकल्प, स्वप्न, ज्ञान, भावना, इच्छा, आवेग आदि का अधिष्ठान है। सोचने की क्षमता इसका आन्तरिक धर्म है।

विचार वैचारिक प्रक्रिया के समान एक क्रिया है। यह स्थिर न होकर सक्रिय है। यह गति या परिवर्तन एक प्रकार की शक्ति है जिसे रजस् कहते हैं और यही मन का विशिष्ट स्वरूप है। मन अपनी अवस्थाओं या वृत्तियों के रूपमें अवस्थित होता है। यदि इन्द्रियां प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं तो मन वह है जो चेतन अवस्थाओं का संधारण करता है। किसी न किसी अवस्था में अवस्थित मन को कार्य-चित्त कहते हैं। कारण-चित्त असंख्य हुआ करते हैं। कारण-चित्त आत्मा से संबद्ध तथा विश्वव्यापी हुआ करता है। लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में जो चित्त प्रगट होता है वह कार्यचित्त या वृत्तिरूप होता है।

योग-दर्शन का लक्ष्य चित्त की विभिन्न अवस्थाओं का नियंत्रण कर उसे कारण-चित्त में अंत में विलीन कर डालना ही है। चित्त के परिवर्तनों का एकान्तता के द्वारा निरोध करते रहने से यह लक्ष्य साध्य हो सकता है।

मन के पांच प्रकार होते हैं। पहला है क्षिप्त चित्त जो रज से प्रचालित होता है। यह भावनाओं से प्रभावित हुआ करता है। दूसरा है मूढ़ चित्त, याने विस्मरण-शील चित्त। यह चित्त क्रोध जैसी भावनाओं से, जो तम की अभिव्यक्तियां हैं, नियंत्रित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहता है। यह प्रायः गलत बातों की ओर अभिमुख होता है। विक्षिप्त चित्त यह तीसरा नमूना है। यह कभी कभी स्थिर रहते हुए भी प्रायः चंचल ही रहा करता है। चोथा है एकाग्रचित्त जो किसी एक ही योग्य या उपयुक्त विषय पर केन्द्रित रहा करता है। अंतिम है निरोध चित्त अर्थात् नियंत्रित चित्त। ज्ञान में सभी मानसिक क्रियाओं का प्रतिरोध हो गया होता है। जब सामान्य मनोवृत्तियों का निरोध हो जाता है तब संप्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इसमें सत्व विपुलता से विद्यमान होता है।

मन की प्रक्रियायें छः प्रकार की होती हैं (२. १८): वे ग्रहण, धारण, ईहा, अपोह, तत्व-ज्ञान तथा अभिनिवेश ये हैं।

योग दर्शन में मन और चित्त की चर्चा की जाती है। कहीं कहीं इनको एक ही माना गया है; कहीं तो मन को इन्द्रिय कहा गया है। मन को अन्यत्र ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में प्रधान कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन दोनों को बाह्य विश्व के अभिमुख करता है। यहां रज प्रधान होता है। मन में अनुव्यवसाय भी घटित होता है। इसमें मनन हुआ करता है जिसके जरिये संवेदनायें (आलोचना) संश्लेषित, विश्लेषित तथा एकीकृत होकर प्रत्यक्ष तथा सामान्य कल्पनाओं में समाविष्ट की जाती हैं। इसमें सत्व का प्राधान्य होता है। इसके सिवाय मन इन अनुभवों तथा कल्पनाओं को संस्कारों के रूप में धारण भी करता है। यहां तम का प्राधान्य होता है। किन्तु जब आत्मा के जैसा सत्व शुद्ध हो जाता है तब कैवल्य की प्राप्ति होती है। सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् (१. २५)। सत्व की शुद्धता पुरुष की शुद्धता के समान है।

चित्त में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं। एक दिशा में वह कल्पनाओं के रूप में तथा दूसरी दिशा में वह संस्कारों के रूप में प्रगट होता है। जब कोई मनोवृत्ति विलीन हो जाती है तब वह सुप्त रूप में या संस्कार के रूप में बची रहती है। वृत्तियां संस्कारों को उत्पन्न करतीं तथा अपनेआपको अभिव्यक्त करती हैं। यह प्रक्रिया वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियां इस क्रम से जारी रहती है। सुख तथा दुःख संस्कारों को उत्पन्न करते हैं और ये अन्य सहचारियों के साथ स्मृति का रूप धारण करते हैं। स्मृति वस्तुओं तथा क्रियाओं के प्रति अनुराग तथा द्वेष निर्माण करती है।

ये वृत्तियां क्लिष्ट याने क्लेशयुक्त, अक्लिष्ट याने क्लेशरहित, अभ्यास याने आदत, तथा वैराग्य ये हुआ करती हैं। अंतिम तीन वृत्तियां क्लिष्ट की विरोधी होती हैं। क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियों की अभिव्यक्तियां प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच हैं।

संस्कार स्वरूप वासनायें भी विचारार्ह हैं। ये चित्त में दृढ़मूल होती हैं। संस्कार यदि सुप्तावस्था का तथा स्मृति जाग्रत् अवस्था के निदर्शक हैं तो वासना स्वाभाविक स्मृति की निदर्शक है। ये स्मृतियां पूर्व जन्मों तक का आकलन कर सकती हैं। यदि यह सत्य है तो योगदर्शन के अनुसार मन को बिलकुल कोरा कतई नहीं समझा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जा सकता।

ऐसी बहुत सी बातें हैं जो मन की एकाग्रता को भंग करती हैं। ये नौ हैं—(१) रोग, (२) आलस्य, (३) अनिश्चय, (४) समाधि के लिये अपेक्षित मानसिक तैयारियां, (५) जाड्य, (६) इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति, (७) अयथार्थ या भ्रामक ज्ञान, (८) एकाग्र ध्यान की असमर्थता, तथा (६) समाधि में मन की स्थिरता। इनके साथ दुःख और निराशा संलग्न होते हैं। इस सब पर से शरीर और मन की अन्योन्य क्रिया जैसा सिद्धान्त निष्कृष्ट होता है।

एकाग्रता के अंतराय तथा मन की अशुद्धियां आठ योगांगों की मदद से नष्ट होते जाते हैं। ये हैं यमानियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (विषयों से इन्द्रियों का अपसारण), ध्यान, धारणा, तप, समाधि। योगाभ्यास से संवेदन-क्षमता और मनकी शक्तियों का विकास होता है। इसीलिये योगी लोग विश्व के रहस्यों का गम्भीरतर ज्ञान और विश्व की घटनाओं का व्यापक नियंत्रण इन दोनों की क्षमता रखते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

VII

आयुर्वेद तथा मनोविज्ञान

ब. स. येरकुंटवार

'तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानौ उन्मेषनिमेषौ बुद्धिः मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिः विज्ञानं अध्यवसायः विषयोपलब्धिश्च गुणाः।'

सुश्रुतसंहिता, शा. स्था अ. १, १७।

यह विषय जितना विस्मयजनक है उतना ही मनोरंजक भी है, जितना विशाल है उतना ही जटिल भी है। इतना बड़ा विषय एक लेख में ग्रथित करना अनेक दवाइयां एक छोटी सी पुड़िया में बाँधने के जैसा ही होगा।

'आयुर्वेद तथा मनोविज्ञान' यह शीर्षक कुछ आधुनिक विचारकों को हास्यास्पद सा लगेगा। लेकिन जिन परिश्रमशील अध्येताओं ने इस विषय का मनन किया है उन्हें ज्ञात होगा कि पुरातन समझे जाने वाले लेकिन 'पुरा अपि नवम्' ऐसे भारतीय शास्त्रों में मनोविज्ञान सर्वत्र ही व्याप्त है। इन्हीं शास्त्रों में आयुर्वेद एक प्रमुख शास्त्र है।

प्रारंभ में ही यह समझ लेना आवश्यक है कि सभी मानवीय शास्त्रों के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टिकोणों से भिन्न है। इस भिन्नता का एक मूलभूत कारण है। वह यह है कि जबकि आधुनिक दृष्टिकोण ऐसा समझता है कि अल्पज्ञान से अधिकाधिक ज्ञान की ओर प्रगति होती है तब भारतीय दृष्टिकोण सामान्यतया ज्ञान को प्रगति की सीमा तक पहुँच कर स्थिर हुआ समझता है। भारतीय लोग ज्ञान की सीमा तक कैसे व कब पहुँच पाये, यह कहना कठिन है। तथापि परंपरा से जो दृष्टिकोण हमें प्राप्त हुआ है वह इसी प्रकार का है। इसमें मूलतत्वों का प्राधान्य, सुव्यवस्था और सुसंघटितता इत्यादि बातें दिखलायी पड़ती हैं। यही कारण है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान की रचना निगमनात्मक ही है। उसकी यह विशेषता यदि समझ में न लायी जाय तो आयुर्वेदीय मनोविज्ञान समझ में तो आयेगा ही नहीं, उसके संबंध में गलतफहमियां ही पैदा होंगी।

इस प्रस्तावना पर से इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक मानस शास्त्रों के समान आयुर्वेद में स्वतंत्र मनोविज्ञान संबंधी विचार तो उपलब्ध नहीं होंगे। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद इतना परिपक्व शास्त्र है कि वह दूसरे शास्त्रों के साथ केवल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक अजनवी जैसा संबंध नहीं प्रस्थापित कर सकता। मानव जीवन तथा मनोविज्ञान ये एक दूसरे के साथ ऐसे मिले जुले हैं कि जिन्हें मनोविज्ञान का अध्ययन करना है उन्हें मानव जीवन का सर्वांगीण अध्ययन करना आवश्यक हो जायगा। आयुर्वेद में मनोविज्ञान तथा दर्शन दुग्धांबुवत् सम्मिलित हो गये हैं। अतः इस मनोविज्ञान की जानकारी के लिये आयुर्वेद के दार्शनिक दृष्टिकोण की जानकारी भी परमावश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान के विचारों में सुसूत्रता लाने वाली एक शाखा है जिसे Hormic Psychology यह संज्ञा दी जाती है। इस शाखा का प्रवर्तक मक्डुगल मनोविज्ञान का सीमित क्षेत्र लांघ कर दार्शनिक मीमांसा में अवसर प्रवेश करने लगता है। इस बात की कई विद्वानों ने शिकायत की है। वुडवर्थ ने इस शाखा की जो समालोचना की है वह देखने लायक है। वुडवर्थ कहता है 'His influence was probably greater than he thought, but it was limited by his insistence that psychologists should follow him beyond the proper bounds of psychology into region that seems to us the province of philosophy. (Contemporary Schools of Psychology, P. 231.)

इस विवाद पर आयुर्वेद की भूमिका स्पष्ट है। शरीर और मन परस्पर पर परिणाम करते तथा परस्पर का अनुसरण करते हैं (शरीरं हि सत्वमनुविधीयते, सत्वंच शरीरम्। चरक संहिता, शा. स्था. अ. ८, ३६)। अतः इन दोनों के क्षेत्र, स्वरूप तथा इनका अध्ययन करने वाले शास्त्र भिन्न भिन्न होने पर भी प्रायः इनका परस्पर संपर्क होता ही है। मनोविज्ञान तथा मनोविकृति इनमें दर्शन का अनेक दिशाओं में प्रवेश अनिवार्य है। अतः मन और दर्शन इन्हें एक दूसरे से अलगाया नहीं जा सकता, ऐसी आयुर्वेद की दृढ़ भूमिका है। यही कारण है कि आयुर्वेदीय ग्रंथों में सांख्य, योग आदि दर्शनों की चर्चा की गयी है। इस प्रकार आयुर्वेदीय मनोविज्ञान को जो धर्म का अधिष्ठान प्राप्त हुआ है उसके अनुषंग से डॉ० युंग की निम्न उक्ति विचारार्ह प्रतीत होती है। युंग कहते हैं— In my immense clinical experience of over thirty years and many hundreds of patients, among those in the second half of life, over thirtyfive, there has not been one whose problem in the last resort was not that of finding a religious outlook on life. When a modern physician is confronted with a neurotic patient he sees only too clearly why his patient is ill. It arises from his having no love but only sexuality, no faith because he is afraid to grope in the dark; no hope because he is disillusioned by the world and life; and no understanding because he has failed to read the mean-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ing of his life. What the patient needs is faith, love, hope and insight.' युंग के मनोविज्ञान का उपर्युक्त सूत्र तथा अन्य मनोविज्ञानों का सूत्र चरक तथा वाग्भट ने इस श्लोक में प्रस्तुत किया है: 'मानसो ज्ञान विज्ञान धैर्य स्मृति समाधिभिः' (सू. स्था. अ. १. ५८)। मनुष्य अनेक पहलुओं से युक्त प्राणी है। अतः उसका विचार करने वाली पद्धति अनेकमुख होनी चाहिये। आयुर्वेद मानव की ओर सर्वांगीण दृष्टि से ही देखता है। सुश्रुत ने 'स्वस्थ' व्यक्ति की परिभाषा बतलाते हुए ऐसा कहा है कि जिस व्यक्ति के दोष, धातु, अग्नि तथा मल, आत्मा, मन और इन्द्रियां प्रसन्न हों वह स्वस्थ होता है (सू. स्था. अ. १५, ५४)। इस परिभाषा में शारीरिक तथा मानसिक इन दोनों क्षेत्रों की आधुनिक Homeostesis की कल्पना किस तरह समाविष्ट है, इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे आयेगा ही। इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान में से जैसे शरीर अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही दर्शन भी उससे अलगाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान में आत्मा, योग, अतीन्द्रिय दर्शन, स्वप्न, विचार इत्यादि अनेक बातों की चर्चा की गई है।

आयुर्वेद की इस भूमिका का समर्थन आधुनिक मानस शास्त्री भी करने लगे हैं। जी. डी. ब्रोग्रास के 'सामान्य विज्ञान की प्रस्तावना' में सर सिरिल बर्ट कहते हैं:—

'Every branch of natural science is essentially an empirical study, yet each necessarily implies a philosophical background. Many of the fundamental concepts which the seiences employ or have employed in the past—substance, property, cause, relation, space, time, quantity, matter, energy and the like—are either categories borrowed from philosophy or modernised substitutes which still require philosophical examination. Even those scientists who hold that all genuine knowledge must be empirical, are adopting a specific philosophic doctrine which itself calls for philosophic proof. Now in psychology this double character is of basic importance, and is too often overlooked.'

उसके अनन्तर श्री बर्ट कहते हैं कि मज्जा धातु शास्त्र में स्नायविक, व प्रयोगशालाओं में जो अन्वेषण हुए हैं, उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्न भिन्न संस्कृतियों में विकसित हुई है। यह सच है कि पाश्चात्य विचारक अपनी कल्पनायें अधिकाधिक साकार (concrete) रखना पसंद करते हैं और यही उनकी जड़वादिता का मतलब हो सकता है। और मनुष्य की चैतन्य शक्ति यद्यपि जड़ परिस्थिति पर निर्भर करती हैं तथापि वह स्वयं जड़ है ऐसा मानना कठिन है। इस शक्ति के आविर्भाव के तरीकों का विचार भारतीयों ने अधिक सूक्ष्मदर्शिता के साथ किया है। पदार्थ विज्ञान–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शास्त्र को भी अब दर्शन में प्रवेश करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। प्राणी विज्ञान की भी अब वही हालत है।

मानस शास्त्री को अपने विज्ञान की सीमा के बाहर जाकर दार्शनिक उलझनों में अपने को नहीं उलझा लेना चाहिये, यह वुडवर्थ का उपरिनिर्दिष्ट आक्षेप अब तक के विवेचन से निराकृत हो जाता है। जो समस्यायें दो ज्ञान शाखाओं की संधि-स्थानीय हैं उनका विचार उन शास्त्रों में से किसी एक की सीमा के भीतर ही रहकर कैसे किया जा सकता है? फ्रायड, युंग आदि पंडित प्रारंभ में औषधि विज्ञान के ही अध्येता थे। किन्तु इस विज्ञान की सीमा-रेखाओं पर अवस्थित समस्याओं के लिये उन्हें मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना ही पड़ा। श्री वोआज़ कहते हैं:—

Whether we take a dualistic or a monistic view of the universe is important as an ultimate frame work for our thinking in psychology also. We may pursue particular problems of psychology without raising such philosophical issues. But when we come to a final synthesis of our psychological knowledge and give it a place in the scheme of realities, such, philosophical problems do arise. (Gen. Psy. P. 30.) इस सब पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन के विना मनोविज्ञान का विचार ही असंभव है।

आयुर्वेदीय मनोविज्ञान का विशेषतया विचार करते समय यद सखेद स्वीकार करना पड़ता है कि अधिकांश अन्वेषकों ने आयुर्वेद में समाविष्ट बुद्धि, अहंकार इत्यादि सांख्य प्रमेयों का बहुत ही संकुचित अर्थ किया है। आयुर्वेद ने अपने विज्ञान की रचना सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक इनके आधार पर प्रमुखतया की हुई है। सृष्टि प्रक्रिया के संबंध में वेदान्त ने भी सांख्य विचारकों को मान्यता दी हुई है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष इन दो अनादि तत्वों के संयोग से प्रथम विभिन्न स्तरों वाली अतीन्द्रिय सृष्टि उत्पन्न होती है। इस अतीन्द्रिय सृष्टि का मंत्र तथा योग शास्त्रों ने सप्त लोकात्मक वर्णन किया हुआ है। सांख्य महान्, अहंकार इत्यादि तत्वों के रूप में सृष्टि का वर्गीकरण करते हैं। यहां तत्व का अर्थ है वस्तु, कल्पना नहीं। ये तत्व चौवीस हैं या पच्चीस इसके संबंध में जो विवाद दिखलाई पड़ता है वह विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। जैसाकि भागवत के एकादश स्कन्ध में श्री कृष्ण ने उद्धव को समझाया है, ये सब तत्व एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होने के कारण उनकी संख्या तथा पौर्वापर्य के संबंध में प्रश्न उठा करते हैं।

बुद्धि, अहंकार इत्यादि सांख्योक्त तत्व अतीन्द्रिय सृष्टि से ही संबंधित हैं। आयुर्वेद में इसी रूप में इन तत्वों का निर्देश आया हुआ है। यह निर्देश दृश्य सृष्टि के वर्णन के लिये आधार के रूप में ही वहां आया हुआ है। सुश्रुत ने एक स्थान में जो दृष्टांत दिये हुए हैं वे दृश्य तथा अदृश्य सृष्टि के संबंध को स्पष्टतया हमारे सामने रखते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ग्रह बाधा के कारण बतलाते हुए सुश्रुत कहते हैं कि 'आइने में जिस प्रकार प्रतिबिंब प्रवेश करता है, शीत या उष्ण जैसे हमारे शरीरों में प्रवेश करते हैं या सूर्यकांत मणि में जैसे सूर्यशक्तियां प्रवेश करती हैं उसी प्रकार जीवात्मा, (आदि अदृश्य तत्व) ग्रह वगैरह मानव शरीर में प्रवेश करते हैं (उत्तरतंत्र अ० ६०, १६)।

अब हम सीधे आयुर्वेदीय मनोविज्ञान के विस्तार में प्रवेश करें। मनोविज्ञान के प्रमुखतया स्वस्थ तथा विकृत (Normanl and Abnormal) ऐसे दो वर्ग होते हैं। अवांतर वर्ग तो अनेक हैं। आजकल अतीन्द्रिय मनोविज्ञान (Para-Psychology) के रूप में एक स्वतंत्र शाखा भी उपर्युक्त दो वर्गों के साथ गिनायी जाती है। इन सभी शाखा प्रशाखाओं का आयुर्वेद में सुस्पष्ट उल्लेख यद्यपि नहीं है तथापि कुछ के सूत्र उसमें उपलब्ध होते ही हैं। यहां हम आयुर्वेद के सामान्य मनोविज्ञान तक ही अपने को सीमित रखेंगे। सुश्रुत का जो वाक्य इस लेख के आरंभ में उद्धृत किया हुआ है उसमें आयुर्वेदीय मनोविज्ञान का सूत्ररूपेण उल्लेख है। जिस 'कर्म पुरुष' के गुणों का सुश्रुत ने वर्णन किया है उसकी रचना इस प्रकार है: पैदा होने वाला प्रत्येक मनुष्य यद्यपि मां-बाप से प्राप्त होने वाले अन्नमय शरीर के साथ ही जन्म लेता है तथापि उसका अपना भी कुछ उसके साथ लगा होता है। अर्थात् कर्म पुरुष के शरीर में वंशपरंपरा से प्राप्त, परिस्थिति से प्राप्त तथा अपना कुछ व्यक्तिगत ऐसी त्रिविध सामग्री समाविष्ट रहती है। उपनिषदों के शब्दों में, कर्मपुरुष का शरीर अन्योन्यानुप्रविष्ट कोषों का बना हुआ होता है। उपनिषदों में बतलाये अन्नमय, प्राणमय इत्यादि कोष तो आयुर्वेद को सम्मत हैं ही। वैसे ही सुश्रुत ने यह भी बतलाया है कि गर्भ में पितृज, मातृज, रसज, आत्मज, सत्वज, सात्म्यज ऐसे गुण हुआ करते हैं। इन गुणों का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने शरीरोपचय, बल, वर्ण, स्थिति, हानि ये रसज इन्द्रियां; ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, सुख, दुःखादि अनुभव ये आत्मज, विभिन्न स्वभाव सत्वज तथा वीर्य, आरोग्य, बल,वर्ण, मेधा इत्यादि बातें सात्म्यज ऐसा स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। चरक ने आत्मज में आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियां, प्राणापान, प्रेरण, धारण, आकार, स्वर, वर्ण इत्यादि, की; सात्म्ज में आरोग्य, अनालस्य, अलोलुपता, इन्द्रिय प्रसाद आदि की, रसज में शरीर की परिपूर्णता, वृद्धि, बल, तृप्ति आदि की तथा सत्वज में इच्छा, शील, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय आदि की गणना की है। इन गुणों में कुछ के कारण दो, कुछ के एक ऐसा वियोग दिखलाई पड़ता है। इसका मतलब यह है कि मनुष्य की कुछ बातें दो-दो कारणों की अपने विकास के लिये अपेक्षा रखती हैं।

कर्म पुरुष अनेक स्तरीय हुआ करता है। अन्नमय स्तर भौतिक तथा रसायन विज्ञानों का विषय है। इसमें Electrical, Atomic, Molecular आदि उप स्तर होते हैं। आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त में इस स्तर का ही वर्गीकरण तथा एकसूत्रीकरण उपलब्ध है। आयुर्वेद के कुछ संप्रदाय इस स्तर तक ही सीमित रह जाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर्म पुरुष का दूसरा स्तर 'प्राणमय' है। इसमें शारीरिक (Physiological) तथा जैविक(Biological)ऐसे उपस्तर भी होते हैं। आयुर्वेद का शरीर विज्ञान तत्वतः आज के शरीर विज्ञान जितना ही विकसित है। जैविक के वारे में भी आयुर्वेद का आधुनिक तत्सम विज्ञान से बहुत कुछ साम्य है। इस द्वितीय स्तर के परे है मनोमय स्तर। बुद्धि, भाव, भावना इत्यादि इस स्तर की विशेषताएं हैं। इनके बारे में भी आयुर्वेद का आधुनिक विचारों से काफी आनुरूप्य है। इसके ऊपर है अतीन्द्रिय स्तर जो परामनोविज्ञान का विषय है।

अब प्रथम अन्नमय को लें। आयुर्वेद इतर भारतीय दर्शनों के समान प्राण तथा मन को स्वतंत्र तत्व मानता है। जड़ के ही विशेष आविष्कार के रूप में इन तत्वों का पुरस्कार आयुर्वेद नहीं करता। इस संबंध में Mechanistic, Emergent, Dialectical, Vitalistic, organistic, Holistic आदि जो सिद्धान्त आधुनिकों ने उद्भावित किये हैं उनकी तत्तदंश में आंशिक सत्यता को ही आयुर्वेद स्वीकार करेगा। प्राणतत्व अन्न में और मनस्तत्व प्राण में विलीन न होकर ये एक दूसरे के आधार पर ही अपना प्रभाव दिखाते हैं, ऐसा आयुर्वेद का मत है। अन्नमय के वर्णन पर सूत्र त्रिदोष सिद्धान्त में उपलब्ध है। त्रिदोषों के अनुसार विभिन्न विकृताविकृत मानसिक क्रियायें कैसे हुआ करती हैं यह आयुर्वेद में स्पष्टतया बतलाया गया है। वाट्सन के चेष्टावाद (Behaviourism) का मूलरूप त्रिदोषवाद में सन्निहित है।

मनुष्य के अधिकांश व्यापार अन्नब्रह्म तथा पांच भौतिक द्रव्यों के आधार पर होते रहते हैं, यह वात स्पष्ट सिद्ध है। भौगोलिक परिस्थिति का मनोव्यापारों के साथ जो सवंध है उसपर इडिंग्टन जैसे भूगोल शास्त्रियों ने प्रकाश डाला ही है। भौगोलिक वर्ष में किये गये संशोधनों से भी यह ज्ञात हुआ है कि वायुमंडल के वैद्युत तथा चुंबकीय गुणों के परिणाम स्वरूप मानसिक विकारों की वृद्धि होती है। नोवेल पुरस्कार विजेता डा० लिनस पॉलिंग ने Chemistry of Mental illness इस विषय पर संशोधन कर जो विचार प्रकाश में लाये हैं (Molecular diseases) वे आयुर्वेदीय त्रिदोष विचारों के पोषक ही हैं। हॉर्मोंज़ का शरीर में स्थान तथा Tranquilising शक्तिप्रद द्रव्यों की बढ़ती मांग ये सब, शरीर के पांच भौतिक स्तरों के साथ मनःस्तर का कितना घनिष्ठ संबध है, यह बतलाते हैं। विभिन्न बीमारियों की पूर्व-रूप अवस्थाओं में जिन स्वप्नों का घटित होना आयुर्वेद ने बतलाया है उन पर से भी पंच भौतिक शरीर तथा मन के निकट संवंध का प्रत्यय आता है।

चलते चलते इसी विषय से संवंधित एक बात का उल्लेख कर दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतः उल्लेखार्ह न लगने वाली ऐसी अनेक वातों का महत्व आयुर्वेद ने पहिचाना है। एक बात यह है कि स्त्री-पुरुष जिस मानसिक स्थिति में समागम करते हैं उसका संतति पर प्रभाव पड़ता ही है। यही कारण है कि ऋतुस्नात स्त्री के लिये कई निषेध आयुर्वेद ने बतलाये हैं। इसी प्रकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गर्भिणी के आहार विहारादि का गर्भस्थ पिंड पर गहरा असर पड़ता है, इस बात पर भी आयुर्वेद ने बड़ा जोर दिया है। आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की विशेषता ही यह है कि उसने आनुवंशिक तथा संस्कार्य इन दोनों मानव शरीर के घटकों का बड़ा ही सुन्दर सायुज्य प्रस्थापित कर दिखाया है।

अब प्राणमय स्तर का विचार करें। आयुर्वेद इसे स्वतंत्र तत्व मानता है। मैक्डुगल के कथन के अनुरूप आयुर्वेद ने इसे सोद्देश्य Purposive कहा है। इसी स्तर में सहज प्रवृत्तियों (Propensities) का समावेश होता है। यहां यह कह देना आवश्यक है कि आयुर्वेद ने भी मनुष्य का निम्न प्राणि-कोटियों से कुछ बातों में सातत्य स्वीकार किया है। इस हेतु वानस्पत्य तथा पाशवीय बातों की भी उपलब्धि मनुष्य के प्राणमय कोष में होती है।

मैक्डूगल ने यह जो बतलाया है कि मानव-मन में कुछ निसर्गसिद्ध स्वयंभू घटक रहते हैं तथा उनके आधार पर इस मन में विभिन्न स्तर बना करते हैं, यह बातें आयुर्वेद को भी अमान्य नहीं हैं। सुश्रुत इस संबंध में एक जगह कहते हैं--

'सर्वाणि अङ्ग प्रत्यङ्गानि युगपत् संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिः गर्भस्य सूक्ष्मत्वात् नोपलभ्यते वंशाङ्कुरवत् चूतफलवच्च।' इस पर से आयुर्वेद को सभी सजीव व्यापारों के सम्बन्ध में यांत्रिकतावादी अभ्युपगम उपयुक्त नहीं जँचता, यह बात स्पष्ट है।

मैक्डूगल ने सहजात प्रेरणाओं (Propensities) को निश्चित स्वरूप की तथा ठोस न मान कर जैसे उन्हें अन्योन्य जनक (Plastic, reciprocal, variable) कहा है वैसे ही उन्हें उसने 'मनोभौतिक' (Psycho-physical) भी समझा है। इसी कारण उसने विश्रान्ति या निद्रा, श्वासोच्छ्वास, हँसना, रोना, दुःख या कष्ट टालना इत्यादि बातों को भी मूल प्रेरणाओं में ही समाविष्ट किया है। इस लेख के प्रारंभ में उद्धृत किये हुए सुश्रुत के वचन में तथा गर्भ की आत्मज कह कर निर्दिष्ट बातों के विषय में आयुर्वेद-वेत्ताओं की भूमिका मैक्डूगल जैसी ही दिखलाई पड़ती है। सुख, दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न, प्राणापान, उन्मेषनिमेष, विषयोपलब्धि इनका अर्थ आगे स्पष्ट किया जायगा। इन्द्रियां इत्यादि प्राणतत्व के स्तर में समाविष्ट हैं। जन्म लेने वाला जीव अपने साथ जो सामग्री लाता है उनमें इन बातों का समावेश है। इन्हींके साथ उच्च स्तर की बातें भी जुड़ी हुई हैं। उनकी आगे चर्चा की जायेगी। आयुर्वेद त्रिदोषों को शारीर तथा रज व तम को मानस दोष बतलाता है। और रज तथा तम इनका किन किन शारीर दोषों से संयोग होकर कौन शारीर-मानस व्यापार घटित होते हैं, इसका विवरण भी आयुर्वेद में दिया गया है। उदाहरणतः निद्रा को लीजिये। मैक्डूगल के मतानुसार निद्रा (Innate propensity) है। सुश्रुत भी इतने ही स्पष्ट शब्दों में कहता है कि 'सः स्वभावतः एव सर्वप्राणिनः अभिस्पृशति, निद्राहेतुस्तमः... .....स्वभाव एव वा हेतुः (शा० स्था०, अ० ८)। तमोगुण तथा श्लेष्म-गुण इनके संयोग से निद्रा घटित होती है, याने वह (Psychophysical) है और वह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वाभाविक (Innate) भी है। मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा इत्यादि के बारे में भी सुश्रुत ने ऐसा ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। अपने विषय के अनुरूप सुश्रुत ने जो स्वप्नमीमांसा उपस्थित की है वह अधिक उद्बोधक है। सुश्रुत कहते हैं कि रजः प्रेरित मन के कारण निद्रावश हुआ जीव पूर्वानुभूत बातों को स्मरण करता है तथा उन्हें यह स्वप्न में देखता है। (पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः। रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥ शा० स्था० अ० ४, ३-६)। स्वप्न संबंधी विवरण में इसकी अधिक चर्चा की जा सकती है। संप्रति यही दिखलाना अभीष्ट है कि प्राणतत्व के स्तर की प्रेरणाओं के संबंध में आयुर्वेदीय तथा हॉर्मिक दृष्टियां बहुत कुछ समान हैं।

इस स्तर के बारे में आयुर्वेद ने इतर जो ऊहापोह किया है उसका विचार कर कर हम आगे बढ़ेंगे। मैकडूगल के तरीके से भले ही न हो फिर भी फ्रायड तथा युंग ने मूल प्रेरणाओं को स्वीकार किया है। फ्रायड ने 'ego-instinct' तथा 'death-instinct' ऐसा वर्गीकरण किया है। फ्रायड को अत्यंत प्रिय जो ध्रुवात्मकता(Polarity) है उसे सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष इत्यादि शब्दों के द्वारा आयुर्वेद वेत्ताओं ने स्वीकार किया ही है। फ्रायड के eros तथा thanatos ये ही इच्छाद्वेष हैं। सुख-दुःख ये ही pleasure-pain priniciple हैं। आगे चलकर फ्रायड ने 'libido' की कल्पना को इतना व्यापक स्वरूप दिया है कि वह लगभग प्राणतत्व से ही एकाकार हो जातो है। मैक्डूगल ने अपने और फ्रायड के मतभेदों की चर्चा के प्रसंग में यह बात अच्छी तरह दिखला दी है (Social Psychology and Psychoanalysis)। फ्रायड के Id में प्राणतत्व की घटक सब प्रेरणायें समा जाती हैं। किन्तु भय की प्रेरणा को उसने अपवादभूत समझा है। युंग ने 'libido' इस संज्ञा में सब प्रेरणाओं को संन्निविष्ट कर लिया है। फ्रायड का 'libido' तथा एड्लर का 'will for power' इनका भो इसी में उसने अन्तर्भाव किया है। युंग ने फ्रायड की unconscious संबंधी धारणा को अधिक व्यापक तथा गहन स्वरूप प्रदान किया है। उसका उसने collective or racial unconscious ऐसा नामकरण किया है। उसके मत से इसमें सभी मूल प्रेरणायें विद्यमान होती हैं और उसमें उसके कथनानुसार मूल प्रकृति (Archetypes) भी उसके अन्तर्गत है।

आयुर्वेदीय मनोविज्ञान को फ्रायड की (मैक्डूगल के शब्दों में कहा जाय तो) सर्वलैङ्गिकता (Pansexuality) मान्य नहीं है। एक बात यह है कि प्राणतत्व तथा लिङ्ग प्रेरणा (Sexual Impulse) ये समव्याप्त बातें नहीं हैं, ऐसा आयुर्वेद का स्पष्ट कथन है। 'काम' शब्द का भारतीय शास्त्रों में काफी व्यापक ऐसा मतलब दिया जाता है। 'Sex' यह शब्द मर्यादित अर्थ का वाचक है। वात्स्यायन ने दो प्रकार के काम बतलाये हैं। वे प्रस्तुत संदर्भ में विचारार्ह हैं। काम माने अनुकूल प्रवृत्ति या इच्छा। फ्रायड को प्राण शक्ति तथा 'Libido' याने लिङ्ग प्रेरणा, ये दोनों ही एक ही प्रतीत हुई; इसका कारण है उसका विपर्यास। वाङ्भट के कथनानुसार मानव

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह ऊर्ध्वमूल तथा अधोशाख हुआ करता है। सिर यह उसकी जड़ तथा सारा शरीर यह उसकी शाखा है। इस जड़में चरक के कथनानुसार सब प्राण इन्द्रियें तथा स्रोत वास करते हैं। किन्तु उनका प्रथम प्रकटीकरण देहरूप शाखाओं में जो होता है वह निचले पेट में होता है। वहीं पर लिङ्गविशिष्ट अवयवों की मूल प्रेरणायें होती हैं। इन दोनों बातों के साहचर्य के कारण ही प्राण शक्ति तथा लिङ्ग प्रेरणा इनका एक होने का भ्रम फ्रायड को हुआ। आयुर्वेद के अनुसार वातदोष का स्थान वहीं है और इस दोष का सूक्ष्म स्वरूप प्राणतत्व हो है। श्री अरविन्द के कथनानुसार, योग शास्त्र के मत में मूलाधार चक्र में, जो निचले पेट में हुआ करता है, मनुष्य की वानस्पतिक चेतना कार्य करती रहती है। अर्थात्, भावनाओं की अभिव्यक्ति पेट के अंतर्गत मणिपूर चक्र तथा हृदय के अंतर्गत अनाहत चक्र द्वारा होती है।

फ्रायड ने उपर्युक्त प्रवृत्ति के निरोव के आधार पर अपनी मनोविज्ञान तथा मानसचिकित्सा की पद्धति का जो निर्माण किया है वह आयुर्वेद को मान्य नहीं है। भारतीय शास्त्रों को हो यह बात मान्य नहीं है तो आयुर्वेद को कैसे वह मान्य होगी? आवेशों का धारण नहीं करना चाहिये, ऐसा शारीर दृष्टिकोण से सुस्पष्ट रूप में आयुर्वेद ने बतलाया है; लेकिन इसके साथ उसने यह भी बतलाया है कि अनिष्ट परिणाम कारक तथा साहसात्मक, याने अपनी शक्ति के परे रहने वाली मानसिक, कायिक तथा वाचक क्रियाओं के आवेश को, इह पर कल्याण चाहते वाले व्यक्ति को धारण याने नियंत्रण करना आवश्यक है। लोभ, शोक, भय, क्रोव, मान, नैर्लज्य, ईर्ष्या, अतिराग, परद्रोह का अनुचिन्तन इत्यादि के आवेगों पर समझदार व्यक्ति को नियंत्रण रखना चाहिये (सू० स्था. अ. ७, २६–३१) यह चरक की उक्ति इस संबंध में विचारार्ह है। चरक, सुश्रुत इन दोनों ने उन्माद के कारणों में उन सब बातों का सन्निवेश किया है जो आधुनिक मनोविज्ञान में Neurosis तथा Psychosis इन नामों से पुकारी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य आधुनिक मानस शास्त्र सम्मत बातों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। इतने पर भी उन्होंने फ्रायड के अनुसार आवेग–निरोध को आत्यंतिक महत्व नहीं प्रदान किया है। सुप्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डा० दास गुप्ता यह बात फ्रायड को समझा सकने में सफल हुए थे, ऐसा कहा जाता है। प्रयत्नपूर्वक तथा सही ढंग से किये गये आवेग निरोध का महत्व फ्रायड भी अस्वीकार नहीं कर सकेंगे (The cultural Heritage of India, Vol. I, पृष्ठ ३१७)।

प्राणमय स्तर में इन्द्रियों का भी अंतर्भाव होता है। चरकने इस संबंध में बहुत ही मूलगामी तथा मार्मिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इन्द्रियां तथा उनके अधिष्ठान ये परस्पर भिन्न हैं, यह चरक का दृष्टिकोण आधुनिक गवेषणाओं के मूलसूत्र को ही उपस्थित करता है। मस्तिष्क का वर्णन करते हुए उसने 'प्राणाः प्राणभृतां यत्राश्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च (सू० स्था, अ. १७, १२)। शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रिय प्राण वहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि' इन वाक्यों में उसका स्वरूप प्रतिपादित कर तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसका महत्व बतला कर brain Localisation की पद्धति से, शिरोविघात होने पर कौन कौन सी बीमारियां होती हैं, यह भी स्पष्टतया निर्दिष्ट किया है (सि० स्था. अ. ६, ४६) इसी संदर्भ में हृदय को आयुर्वेद ने जो महत्व दिया है उसका भी उल्लेख करना आवश्यक है। हृदय इन्द्रियां, बुद्धि, मन, तथा चैतन्य इनका स्थान बतलाया गया है। इस कारण आयुर्वेद में हृदय तथा मस्तिष्क इन दो अवयवों के बारे में काफी मतभेद विद्यमान है। लेकिन वह निरर्थक है। हृदय का संबंध भाव, भावना तथा दैनंदिन प्राणव्यवहार (Vegetative functions) इनसे अधिक होने के कारण ही उसका आयुर्वेद ने महत्व बतलाया है। साधक चित्त का हृदय स्थान होने के कारण Sympathetic system की दृष्टि से हृदय महत्वपूर्ण अंग है और केवल इसी कारण उसकी प्रशंसा आयुर्वेद के ग्रंथों में की गई है। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण अप्रस्तुत है। किन्तु आयुर्वेद तथा आधुनिक दृष्टिकोण इस संबंध में एक जैसे हैं, यह ध्यान में रखना ही पर्याप्त है।

इन्द्रियों के विचार से मस्तिष्क को उनका स्थान बतलाकर चरक उनके अधिष्ठानों का जो निर्देश करता है उसपर से उसकी सूक्ष्म दृष्टि का हमें प्रत्यय प्राप्त होता है। त्वक् को छोड़ कर बाकी सब इन्द्रियां शरीर के दायें तथा बायें भागों में उसने विभक्त की हैं। त्वक् यह शरीर-व्याप्त है। लेकिन ये सब इन्द्रियां के अधिष्ठान हैं। इन्द्रियां तो मस्तिष्क में ही होती हैं। आधुनिक संशोधन की यह सुस्पष्ट उपलब्धि है कि हरेक संवेदना का ज्ञान तथा उसकी विशेषता 'Receptor Organ' या उसमें से निकलने वाली वातवाहिनी (Nerve) में न होकर, मस्तिष्क के विशिष्ट भागों में ही उपलब्ध होते हैं। गर्भपिंड को उत्तरोत्तर प्रकृष्ट अभिव्यक्ति की पार्श्व भूमि पर चरक के उस मत का विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि प्राणतत्व अंतर्गत स्वयंभू प्रेरणाओं के द्वारा ही इन्द्रियाधिष्ठानों की निर्मिति करता है। इस प्रक्रिया की एक अवस्था ही मस्तिष्क का पंचधा विभक्तीकरण है। यह विभक्तीकरण ही पंच ज्ञानेन्द्रियां तथा उनके 'Receptor Organs' और उनके 'Nerves' याने पंचेन्द्रियाधिष्ठान हैं। इस विषय पर से अब हम आधुनिक मनोविज्ञान के एक बड़े ही विवाद्य विषय के, जो अब निर्मित हो चुका है, आंगन में प्रवेश करते हैं।

आयुर्वेद का यह सुस्पष्ट कथन है कि मनुष्य को संवेदनाओं का जो ज्ञान होता है वह केवल इन्द्रियार्थ, इन्द्रिय तथा इन्द्रियाधिष्ठान इनके संयोग से ही नहीं प्राप्त होता। इसमें मनका भी अस्तित्व समाहित है। चरकने अनेक स्थानों में यह बात कही है। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा इन्द्रियार्थ इनका संयोग ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। ग्रोस क्लार्क (Gros clarke) इस विद्वान ने जो निष्कर्ष इस संबंध में उपस्थित किया है वह मनोविज्ञान के लिये महत्वपूर्ण है। वह कहता है कि—"·········for conscious perception necessarily involves a factor of attention, and attention presupposes interest, which in turn

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

involves the affective and conative aspects of mental activity. In other words, to be perceived the effects of external stumuli must in some way be linked up with the subjective side of experience; that is to say, with the idea of the self.' (New Biology, No. 1, The Basis of Sensory experience, p. 82).
श्री क्लार्क ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि मस्तिष्क के प्राथमिक खंड में, जिसमें Basal ganglia की गणना की जाती है—मनुष्य की अहं वृत्ति प्रकट होती है। वैकृतिक (Pathological), रूग्णविषयक (clinical), शरीर विषयक (Anotomical) तथा प्रयोगात्मक (Experimental) इस तरह सभी परस्परोपकारक निरीक्षणों पर से यह सिद्ध होता है कि मन यह मस्तिष्क के ऊपरी आवरण (Cerebral cortex) का सभी संवेदनाओं के संकलन तथा समायोजन के साधन के रूप में उपयोग करता है। मस्तिष्क का तीसरा विवर (Third Ventrical) 'अहं' वृत्ति का अधिष्ठान है ऐसा क्लार्क का मत है। इस अवयव के कार्य के विना कोई भी संवेदना ठीक तरह आकलित नहीं होती।

उपर्युक्त कथन में अनेक बातें अंतर्भूत हैं जिनका क्रमशः विचार करना आवश्यक है। सांख्य के अनुसार ('त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः'—सांख्यकारिका) इन्द्रिय व्यापार के मूल में दृष्ट या अदृष्ट रूप में बुद्धि, मन तथा अहंकार इनकी प्रक्रियायें विद्यमान होती हैं। आयुर्वेद ने भी यह बात मानी है। एक बात तो अब सर्वमान्य हो चुकी है कि मस्तिष्क में स्थानीय विशेषतायें यद्यपि दिखायी देतो हैं तो भी उनको मर्यादित महत्व ही देना चाहिये। मस्तिष्क संपूर्ण रूप से ही कार्य करता है। यह बात लेशले, शेरिंगटन इन अनेक मनोवैज्ञानिकों ने सप्रयोग दिखला दी है। मस्तिष्क तथा वातवाहिनी संस्थान (Nervous System) सहचर विभाग तथा सहचर वातवाही तन्तु (Areas association fibres) अनेक होते हैं, यह बात सर्व परिचित ही है। इन सब प्रमाणों का विचार किया जाय तो आयुर्वेदीय तथा इतर भारतीय शास्त्रों की मानसशास्त्रीय पृष्ठभूमि काफी स्पष्ट हो जाती है। प्राणतत्व स्वयंभू स्वरूप से अंतर से ही ज्ञान सामग्री को प्रेरणा देता है, यह बात सच है। यहां एक और आयुर्वेदीय, तथा परोक्ष रूप में सभी भारतीय शास्त्रों की, एक संज्ञा का स्पष्टीकरण करना अपेक्षित है। वह संज्ञा 'अहंकार' यह है। आधुनिक शास्त्रों में भी Self, selfconciousness, ego. Individual अथवा Personality इन संज्ञाओं में आपस में फर्क किया ही जाता है। आयुर्वेद में इन शब्दों के अर्थ-भेद स्वीकृत किये गये हैं। प्राणतत्व यह गर्भपिण्ड तथा वर्द्धमान व्यक्ति में समग्र रूप से ही (Holistically) कार्य करता है। वह भी 'अहंकार' है। फ्रायड जिसे 'Ego' कहता है वह भी अहंकार ही है। और सुश्लिष्ट व्यक्ति तत्व, जिसका स्पष्टीकरण मैक्डूगल ने 'Personality' का विचार करते समय अतीव उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है वह भी अहंकार ही है। सत्वज बातों के विवेचन के प्रसंग में इसका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम थोड़ा दिग्दर्शन करायेंगे।

मनोविज्ञान की गेस्टाल्ट शाखा ने Perception और learning इन प्रक्रियाओं का विशेष विचार किया है। इसके विचारानुसार संपूर्ण प्राणी ही इन प्रक्रियाओं का कारक होता है। उसमें 'Insight' इस नाम से पहिचानी जाने वाली शक्ति होती है, यह बात गेस्टाल्टवादी स्पष्टतया वतलाते हैं। इन्द्रियां, इन्द्रियाधिष्ठान, प्रत्यक्षज्ञान (Perception) इस संवंध में आयुर्वेद ने जिस दृष्टिकोण का पुरस्कार किया है उसमें 'गेस्टाल्ट' किस तरह समाविष्ट है यह बात सुश्रुत के द्वारा प्रयुक्त 'विषयोपलब्धि' इस शब्द से तथा 'भयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः' इस सांख्य वचन से भी स्पष्ट होती है। विषयोपलब्धि का अर्थ है शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनकी प्रतीति। यह प्रतीति 'अहं' पूर्वक ही होगी। उसमें सामान्य और विशेष ये दोनों रहेंगे ही। गेस्टाल्ट प्राणतत्व की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता। फिर भी अंश से अंशी को वह अधिक महत्व देता है। इसका मतलब यह है कि गेस्टाल्ट की मदद से प्राणतत्व की स्वयंपूर्णता सिद्ध होती है। Organisation या संघटन गेस्टाल्ट का मूलतत्व है। 'अहं' भी एक संघटन ही है। शारीर शास्त्र तथा मनोविज्ञान इनमें उपलब्ध होने वाला 'Homeostasis' का तत्व और मानव की मानवीय चेष्टायें (Behaviour) ये 'Molar' अर्थात् सांघातिक बातें हैं, यह व्यवहारवादियों (Behaviourists) का प्रतिपादन मूलतः 'अहंकार' रूप तत्व के स्वरूप का ही अभिव्यंजक है। पावलोव के 'Conditioned Reflex' पर आधारित मनोविज्ञान में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। स्थल संकोच के कारण इस बात की चर्चा यहां हम नहीं करना चाहते।

प्राणतत्व के संवंध में एक और बात। इसके अनंतर मनोमय तत्व की ओर हम अग्रसर होंगे। आधुनिक विज्ञानों में मनुष्य प्राणि के वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। हिपाक्रेटिस के चार वर्ग आयुर्वेद प्रतिपादित तीन प्रकृतियों के अपभ्रष्ट स्वरूप हैं यह बात तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को विदित ही है। वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, कफ प्रकृति और कहीं कहीं उल्लिखित सम प्रकृति यह वर्गीकरण हिपाक्रेटिस के वर्गीकरण का मूल है। वर्तमानकाल में जर्मन विद्वान् एर्स्ट क्रेश मूर ने इस विषय की चर्चा छेड़ने का प्रयास किया है। उसके अनंतर लॅन् हंटर ने इस संवध में कुछ निष्कर्ष प्राप्त किये। स्प्रज्ट, आल्पोर्ट, शेल्डन, फ्रायड, युंग, सिरिल बर्ट, तरिक फ्राम इन विद्वानों ने भी इस विषय का विचार किया है। प्रो० वोआज ने त्रिगुणों के आधार पर किये गये वर्गीकरण का अपने मनोविज्ञान में निर्देश किया है लेकिन उसकी विशेष चर्चा नहीं की है। उस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि एतत्संबंधित भारतीय विचारकों की भूमिका वोआज के समझ में नहीं आ पायी या उसे समझने का उसने प्रयत्न नहीं किया। आयुर्वेद ने त्रिदोषात्मक प्रकृतियों का भी उल्लेख किया है, यह बात ध्यान में रखने योग्य है। त्रिदोषात्मक प्रकृतियां 'Temperamental' हैं। उनके मूल में मैक्डूगल के कथनानुसार रासायनिक प्रक्रियायें हुआ करती हैं। अतः इस प्रकृति का सम्बन्ध प्राणतत्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के स्तर के साथ आता है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है। इतर प्रकृतियों का संबंध मनोमय स्तरों से है। अतः इस स्तर का विचार अब क्रम प्राप्त है।

आयुर्वेद में 'मन' और 'सत्व' ये शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हैं और मन के कार्य के निर्देश की दृष्टि से मन को शरीरतन्त्रक अर्थात् शरीर का नियंत्रण करने वाला, ऐसा कहा गया है। 'सत्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकं आत्मनेयोगात्' (च० सं० वि० स्था०, अ० ८, ११६)। आयुर्वेद में दो प्रकार से सत्व का निर्देश आया है। एक गर्भपिण्ड की दृष्टि से तथा दूसरा वर्द्धमान व्यक्ति की दृष्टि से। मनोमय स्तर के ये दो उपभेद हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में डा० युंग के विचार-संप्रदाय ने मनुष्य की मनोरूप गुहा बहुत ही गहरी होने की बात सिद्ध कर दिखायी है। फ्रायड ने केवल बाल्य की मर्यादा तक ही मन की गहराई पहिचानी है। युंग ने 'Collective' या 'Radical' तक मन की गहराई का पता लगाया। किन्तु आयुर्वेद के मतानुसार यह गहराई पूर्वजन्म तक पहुँचती है। गर्भकारक भावों में मन भी है, ऐसा उसका सुस्पष्ट कथन है। उसके द्वारा अधिष्ठान के रूप में स्वीकार किये हुए सांख्ययोग के आधार पर से यह बात निकलती है कि गर्भ में पूर्वजन्म का मन प्रविष्ट होता है। यह मन जिस जाति का हो उसी प्रकार की गर्भ की मानस प्रकृति बनती है। मन तीन ही तरह का हो सकता है— सात्विक, राजस तथा तामस। पूर्वजन्म के ब्राह्म, ऐन्द्र, वारुण, कौलेट, गान्धर्व, आर्ष, याम्य ये सात सात्विक तरीके; आसुर, सार्प, शाकुन, राक्षस, पैशाच, प्रेत ये छः राजस तरीके और पाशव, मत्स्य, वानस्पत्य ये तीन तामस तरीके हुआ करते हैं। इन तरीकों में सोलह मानव प्राणी की सोलह विभिन्न प्रकारों की मानसिक प्रवृत्तियां हुआ करती हैं, ऐसा चरक और सुश्रुत इन दोनों का मत है। इन सभी प्रकृतियों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। विभिन्न अनुक्रमों से इन प्रकृतियों के मिश्रण के फलस्वरूप अपरिसंख्येय प्रकृतियां पैदा होती हैं, यह भी चरक का कथन है। इस सबका निचोड़ यह है कि मानवीय व्यक्तित्व के जो मुख्य घटक मैक्डूगल ने बतलाये हैं— disposition, temprament, tempre, character and intellect— इनमें कितनी बातें पूर्वनियत (Predetermined) हुआ करती हैं, यह आयुर्वेद तथा Hormic psychology ये दोनों ही स्पष्टतया बतलाते हैं। अनुभव का प्रभाव उपर्युक्त पांचों पर पड़ता है, यह अब सिद्ध हो चुका है। पूर्वजन्म का भी इनपर प्रभाव पड़ता है, यह बात अधिक आयर्वेद ने बतलायी है। बुद्धिमत्ता आनुवंशिक होती है, यह बात तो अभिन्न युग्मजों (Indentical twines) के अध्ययन पर से निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। Thalamus तथा Hypothalamus इन दो मास्तिष्क विभागों से घनिष्टतया संबंधित भावनाओं की अभिव्यक्ति जिन शरीर द्रव्यों (biochemicals) के द्वारा हुआ करती है वे द्रव्य भी अनुवंश नियंमित ही हैं। मस्तिष्क के धातुकोष (nerve cell) भी इसी प्रकार के होते हैं। इस वस्तुस्थिति पर दृष्टिपात किया जाय तो परिवेशवादियों (Environmentalists) का कथन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कैसा अतिरेकपूर्ण है यह अपने आप प्रगट हो जायगा।

गर्भावस्था से ही मानवीय व्यक्तित्व कैसे निर्धारित होता है, इस बात का समर्थन आजकल के कुछ महत्वपूर्ण अनुसन्धानों से प्राप्त हुआ है। शर्ले ने बाईस अर्भकों का जन्मदिन से लेकर उनके दूसरे साल तक अध्ययन कर जो वृत्तांत तैयार किया है उससे यह दिखलाई पड़ता है कि कई बच्चों की वैयक्तिक विशेषतायें उनके जन्म के बाद एक-दो सप्ताहों में ही प्रगट होने लगती हैं और बाद में वे वैसे ही बनी रहती हैं। इस पर से शर्ले ने जो निष्कर्ष निकाला वह यह है—

'Traits are constant enough to make it possible that a nucleus of personality exists at birth and that this nucleus persists and grows and determines to a certain degree the relative inportance of the various traits. Some change is doubtless wrought by environmental factors. But this change is limited by the limitations of the original personality nucleus. (Quoted by Boas, P. 385). कुछ वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया के इतने शीघ्र प्रगट होने के संबंध में संदेह व्यक्त किया है। उनका यह कहना है कि जन्म के पहले पखवाड़े के बजाय पहले चार महीनों में ही वैयक्तिक विशेषतायें प्रगट होती हैं। शर्ले के पन्द्रह अर्भकों का निरीक्षण नीलन (Nealon) ने पन्द्रह साल बीत जाने के बाद किया था। उस समय उनकी अवस्था सत्रह के लगभग थी। उस समय उसे दिखलाई पड़ा कि प्रारंभिक विशेषतायें जैसी की तैसी बनी हुई थीं। गेसेल तथा एमिस ने पांच बच्चों का विस्तृत अध्ययन कर यह निष्कर्ष प्राप्त किया था कि इन बच्चों में पहले साल में जो विशेषतायें उपलब्ध हुई वे उनके पांचवें साल में भी जैसी की तैसी विद्यमान थीं। इस सबका निचोड़ यह है कि आयुर्वेद की गर्भकर भावों की कल्पना अनेक प्रमाणों से अच्छी तरह प्रमाणित होने के योग्य है।

इसी संदर्भ में आजकल जिन्हें 'Personality types' इन शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है उन बातों के संबंध में आयुर्वेद के विचारों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। चरक ने इस बात का सुस्पष्ट विवेचन किया है। इसकी आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचारों के साथ तुलना अर्थपूर्ण होगी। चरक कहते हैं—'स्वार्थेन्द्रियार्थ सङ्कल्प व्यभिचरणात् च अनेकं एकस्मिन् पुरुषे सत्वं, रजस्तमः सत्व गुण योगाच्च; नच अनेकत्वं, न ह्येक कालं अनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाल सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः' (सू० स्था०, अ० ८, ५)। मन के विषय तथा इन्द्रियों के विषय और वैसे ही मनुष्य के संकल्प इनमें समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। त्रिगुणों के कारण भी विभिन्न प्रकार के मिश्रण बनते रहते हैं। अतः मन एक होते हुए भी अनेक रूप होता हुआ प्रतीत होता है। एक ही समय मन अनेक बातों में नहीं प्रवेश कर सकता अतः वह सब इन्द्रियों की एककालीन प्रवृत्ति का प्रेरक नहीं हो सकता। इतना कह कर आगे चरक बतलाते हैं कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिस गुण बाहुल्य से युक्त सत्व मनुष्य में पुनः उदित होता है उसके अनुरूप मानसिक प्रकृति का वह मनुष्य समझा जाता है। ('यङ्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते: सत्वं तत्सत्वमेव उपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात् (सू० स्था०, अ० ८, ६) चरक का यह कथन बोआज की निम्न उक्ति से तुलना करने योग्य है। बोआज कहता है—'It can be claimed definitely that all attempts to clasify people into distinct types have failed, perhaps it may even be claimed that they are doomed to fail. This is mainly because of: (I) The observed fact that all psychological characteristics follow in their distribution the principle of the normal probability curve. There is not much of gradual variation from one step to the other. Each individual will fall at a front in a continuous scale, each stage merging into the next. यहां पाद टिप्पणी में Eysenk का जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है वह महत्वपूर्ण है। वर्गीकरण सामान्यरूप से करना चाहिये यह आइसेंक का कथन आयुर्वेदीय ही है।

There is no rigid consistency even in the same individual. This is particularly because man is a dynamic living organism. He constantly grows. Inspite of the concept of a more or less permanent inner core his actual behaviour at a particular moment, which alone we test by the tests available, may depend upon so many factors. (Gen. Psy., P. 403). इस उद्धरण से, बोआस और चरक की भूमिकाओं में कितना साम्य है, यह स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर के स्पष्टीकरण के सम्बन्धों में दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं। एक यह कि क्या पूर्व जन्म मानवीय नहीं होता? दूसरा यह कि, क्या जीव मानवीय मन के साथ गर्भ रूप धारण नहीं करता? एक और भी प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यदि मानव इतना पूर्वनियत है तो क्या उसके विकास के लिये कोई गुंजाइश नहीं है? ये प्रश्न उचित ही हैं। मनोमय स्तर के स्पष्टीकरण से इन शंकाओं का निरसन हो जायगा। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है कि आयुर्वेद की दृष्टि से कार्य-कारण नियम यांत्रिक (Mechanistic) न होकर सजीव (Organic) हैं। अतएव मनुष्य के संस्कार, शिक्षा, कर्म-स्वातंत्र्य, बुद्धि सामर्थ्य आदि सभी बातें अर्थ पूर्ण हैं। ये भी सप्रयोजन हैं। अब इन बातों का संक्षिप्त विचार क्रम प्राप्त है।

पहले यह बताया जा चुका है कि आयुर्वेद में 'सत्व' शब्द का प्रयोग दो-तीन सन्दर्भों में आता है: एक पूर्वजन्म के मन के संदर्भ में, दूसरा इस जन्म के मन के और तीसरा, जिसे आजन्मत 'इच्छा शक्ति' कहा जाता है उस इच्छा शक्ति के, सन्दर्भ में। पहले

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का वर्णन ऊपर आ चुका है। अब दूसरे व तीसरे का विवेचन हम करेंगे। आयुर्वेद में मानसिक व्याधियां तथा उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में जो विचार आया हुआ है उस पर से उसकी एतद्विषयक भूमिका स्पष्ट होती है। चरक, सुश्रुत इन दोनों ने हो मानस व्याधियों में क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, असूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ, इच्छा और द्वेष इन सबका समावेश किया है। इनके सम्बन्ध में मिथ्यायोग, अयोग तथा अतियोग कैसे हुआ करते हैं, यह भी उन्होंने बतलाया है। त्रिविध औषधों में चरक ने 'सत्वावजयः पुनरहितेभ्यो अर्थेभ्यो मनोनिग्रहः' (सू. स्था. अ ११, ५४) यह भी एक औषध या उपाय बतलाया है। त्रिविध बलों में शरीर और मन इनके बलों का निर्देश कर चरक ने मन के प्रवर, मध्य और हीन ये बल प्रकार बतलाये हैं। इनमें जिसे इच्छा शक्ति (Will Power) कहा जाता है उसका स्पष्ट निर्देश है। इसी अर्थ में 'इछा' शब्द चरक ने प्रयुक्त किया है। दुर्निग्रह मन का नियन्त्रण करने वाला, मन का जो सारभूत अंश है वही 'सत्व' है। इसे फ्रायड के शब्दों में Super ego भी कह सकते हैं। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मन (Munn) ने अपने मनोविज्ञान कोष में Will Power का स्पष्टीकरण अधोनिर्दिष्ट प्रकार से किया है:

Inferred from persistence in following out some laws of activity despite barriers or distracting influences and also from decisiveness in making difficult choices.

इस स्पष्टीकरण के साथ सुश्रुत के एतत्सम्बन्धी प्रतिपादन की तुलना कीजिये। सुश्रुत कहते हैं—'सत्वंतु व्यसनाभ्युदय क्रियादि स्थानेषु अविक्लवकरम्'(सू० स्था० अ. १५,३७)। आपत्तियों में अविचलित रहना, अभ्यदय के प्रसंग में आपसे बाहर न हो जाना, इन्हीं बातों को सुश्रुत ने 'सत्व' संज्ञा दी है। इस कथन के समर्थनार्थ वे यह श्लोक लिखते हैं: 'सत्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना। राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैवतामसः॥' तात्पर्य यह है कि आत्मसंयम के द्वारा सत्ववान् मनुष्य सब कुछ सहता है, राजस दूसरों के साथ सहिष्णुता बरतता है और तामस किसी भी अवस्था में सहनशीलता नहीं बरत पाता। मनुष्य का सत्व त्रिगुणान्तर्गत सत्व के द्वारा मुख्यतः बनता है, यह सभी भारतीय दर्शनों का कथन है। इसका कारण यह है कि 'Synthesis' या Harmony या 'Integration' ये सब बातें सत्वगुण के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। जिस बात को आजकल 'character' के नाम से पुकारा जाता है वह सत्व ही है। कहीं कहीं आयुर्वेद में इसे 'शील' भी कहा गया है (द्रष्टव्यः 'शील प्रकृति', 'शील विकृति' प्रयोग सुश्रुत सू. स्था. अ. ३६-३७)। यह शील बनाने में Will Power का बहुत बड़ा हाथ होता है, यह मैक्डूगल ने अच्छी तरह दिखलाया है। मैक्डूगल की Character की व्याख्या तथा आयुर्वेद की एतत्सम्बन्धी व्याख्या तुलनार्ह है। मैक्डूगल कहता है: "The nature propensities are the chief part of the raw material wnich becomes organised to

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

form character. The process of organisation is of two stages. The first stage in the formation of the statements. The second stage is the building of sentiments into a harmoniously cooperating system. *Such a system of sentiments is character*. The strength of character is a matter of the degree of harmony and integration attained by the system, and perhaps also of the degree to which the whole organisation is solidified by exercise (Energies of man, 188.)। सुश्रुत ने सत्वसार मनुष्य का जो लक्षण बतलाया है वह इस प्रकार है: स्मृति, भक्ति, प्रज्ञा, शौर्य, शौचोपेत, कल्याणाभिनिवेश सत्वसारं विद्यात्' (सू. स्था. अ. ३५.१६)। चरक का लक्षण इस प्रकार है: स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयोमहोत्साहाः दक्षाः धीराः समरविक्रान्तयोधिनः त्यक्त विषादाः सुव्यवस्थितगति गम्भीर बुद्धि चेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्वसाराः (वि. स्था. अ. ८–११०)। इन दोनों आयुर्वेद विदों के मत में कितना साम्य है। इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि 'Harmoniously developed personality के ही वर्णन यहां दिये गये हैं और 'Character' इस 'Personality' का ही मुख्य अंग है।

अनुभव, अभ्यास, संस्कार तथा शिक्षा इनका सत्व के साथ कैसे सम्बन्ध है तथा इनके साथ वंश परम्परा और पूर्व जन्म का भी कितना महत्व है, ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं। मैक्डूगल भी इन बातों का महत्व स्वीकार करता है। इस पर से यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान यह 'Hormic' है।

अबतक हमने सामान्यरूप से मनोविज्ञान के अंतर्गत भावनात्मक तथा इच्छात्मक प्रश्नों का विचार किया है। अब बौद्धिक पक्ष का विचार प्रस्तुत है। लेख के प्रारंभ में उद्धृत सुश्रुत वचन में बुद्धि, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय इन, तथा इनके सजातीय शब्दों का, स्पष्टीकरण अब करना चाहिये। आयुर्वेदीय वाङ्मय में बुद्धि शब्द के साथ ही मेधा, प्रज्ञा इत्यादि शब्द भी प्रयुक्त हैं। इन सभी शब्दों की अर्थच्छटायें विभिन्न हैं, यह याद रखना चाहिये। आयुर्वेदीय रसायनतंत्र में, याने आज जिसे 'Rejuvenation' कहा जाता है उसमें 'मेधा' शब्द 'स्मृति' शब्द के साथ प्रायः प्रयुक्त होता है। आयुर्वेद के इस योग में मनुष्य को दीर्घायुष्य कैसे प्राप्त हो सकता है इस बात का विचार किया गया है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि दीर्घायुष्य नीरोग ही होना चाहिये। आज अमेरिका के जैसी कुबेर सृष्टि के देश में मनुष्य दीर्घायुषी होते हुए भी नीरोगी नहीं है। इसी कारण पारिवारिक, सांस्कृतिक, राजकीय, बौद्धिक, मानसिक, आयुर्वैदिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में वहां कोलाहल मचा हुआ है। राष्ट्र की आयु पर इस स्थिति का क्या प्रभाव वहां पड़ता है यह E. V. Stieglith महोदय ने (Encyclopedia Britannica. Vol. 10, Genontology and Gesiatrics. P.313) अपने लेख

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में अच्छी तरह दर्शाया है। आरोग्य युक्त दीर्घायुष्य के शारीरिक चिह्न तारुण्य या मध्यम अवस्था के ही हो सकते हैं। भावनात्मक अथवा मानसिक चिह्न भी समझने लायक हैं। बौद्धिक चिह्नों या लक्षणों में, 'creative thinking' या सृजनशील विचार, और स्मृति याने 'Remembering' इनका अन्तर्भाव करना आवश्यक है। (अर्भकों के विकासार्थ कौन कौन से औषधि द्रव्य अत्युत्कृष्ट हैं यह बतलाकर उनका परिणाम 'कुमाराणां वपुर्मेधा बल बुद्धि विवर्द्धनाः' ऐसा सुश्रुत प्रतिपादन करते हैं। मेधा और बुद्धि शब्दों का प्रयोग यहां जो किया गया है वह भी विचारार्ह है। 'प्रज्ञा' यह शब्द चरकसंहिता में अनेक बार आता है। सुश्रुतसंहिता में वह कहीं कहीं आता है। 'मेधा' शब्द की जैसे स्पष्ट व्याख्या नहीं हैं वैसे ही 'प्रज्ञा' शब्द की भी व्याख्या उपलब्ध नहीं है। धात्वर्थ और संदर्भ इनकी मदद से ही इन शब्दों के अर्थ निर्धारित किये जाने चाहियें। रोगों के प्रमुख कारणों में चरक ने 'प्रज्ञापराध' का वारंवार उल्लेख किया है। एक प्रसंग में इस विषय की विस्तृत चर्चा करते समय उसने संक्षेप में 'प्रज्ञापराध' का वर्णन किया है। वह यह है—'बुद्ध्या विषम विज्ञान विषम प्रवर्तनम्। प्रज्ञापराध जानीयात मनसो गोचरं हि तंत्' (शा०, स्था०, अ० १,१०७)। विषम याने कभी अधिक तो कभी कम ऐसा विज्ञान और वैसा ही आचरण यह प्रज्ञापराध का लक्षण चरक बतलाता है। इसके पहले के ही श्लोक में 'प्रज्ञापराध' का निचोड़ 'रजोमोहसमुत्थितम' इस वाक्य के द्वारा उपस्थित किया गया है। प्रज्ञा माने संतुलित बुद्धि या सात्विक बुद्धि। 'समं बुद्धिर्हि पश्यति' ऐसा चरक कहता ही है। ऐसी संतुलित बुद्धि उत्पन्न होने के लिये उसका रजस्तमोविरहित याने निर्मल, होना आवश्यक है। रजोगुण और तमोगुण किन मनोवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं यह सांख्ययोग के आधार पर आयुर्वेद ने भी बतलाया है। उत्तम तथा विमत मनोवृत्तियों के द्वारा जो बुद्धि तुष्ट होती है वही प्रज्ञा है। इस संदर्भ में गीता के दूसरे अध्याय में प्रज्ञा के वर्णन पर जो श्लोक हैं उनकी याद आती है। उपर्युक्त कथन के साथ मैक्डूगल का निम्न प्रतिपादन तुलनार्ह है—'All intellectual development and retirement is unavailing unless accompanied by the growth of well knit or highly integrated character (Energies of Man. P. 305)। चरक और सुश्रुत इन दोनों ने ही सत्वसार पुरुष के लक्षणों में 'प्रज्ञा' का समावेश किया है। इस पर से आधुनिक तथा प्राचीन मत के विस्मयकारी साम्य का प्रत्यय आये विना नहीं रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन पर से, बुद्धि में कौन कौन सी बातें समाविष्ट हैं, यह स्पष्ट हो जायगा। अब कुछ और शब्दों का विचार करेंगे। 'बुद्धि' शब्द 'Intellect' तथा 'Intelligence' इन दोनों अर्थों में आयुर्वेद और अन्य भारतीय विद्याओं में प्रयुक्त हुआ है। 'Intelligence' की व्याख्या करने में आधुनिक मानस शास्त्रियों को कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा है, यह जानकार लोगों को अज्ञात नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'Intelligence' का विशेष अध्ययन मनोविज्ञान की 'Factor Analysis' इस शाखा में किया जाता है। स्पियरमन की 'two-factor theory' विश्रुत ही है। बुद्धि लब्ध्यंक (I.Q.) प्रारंभ में जितना उपयुक्त प्रतीत हुआ उतना वास्तव में उपयुक्त वह नहीं था। बुद्धिमत्ता का स्वरूप उसपर से पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो सकता तथा बच्चों का बौद्धिक विकास का विश्वासार्ह ज्ञान उसके द्वारा प्राप्त नहीं होता, ये बातें अब सूर्य प्रकाश के जितनी स्पष्ट हो गयी हैं (द्र० Science Digest, Dec. 1961)।' बुद्धि लब्ध्यंक से जिसका निर्धारण किया जा सकता है वही बुद्धि है' (.........The only definition of intelligence I can get out of the psychologists is that quality which is measured by intelligence tests, ऐसा साइंस डाइजेस्ट में एक जानकार ने लिखा है।) ऐसी निराकार परिभाषायें छोड़ भी दी जायें तो भी एक बात तो अब स्पष्ट हो गयी है कि बुद्धिमत्ता यह एक एकरूप वस्तु न होकर अनेक घटकों से बनी हुई वस्तु है। मन (Munn) ने Intelligence की जो यह परिभाषा प्रस्तुत की है वह कामचलाऊ है। इस दृष्टि से 'प्रज्ञा' यह भारतीय शब्द अधिक उपयुक्त है। चरक की प्रज्ञापराध की कल्पना पर से प्रज्ञा का लक्षण 'सम विज्ञानं' या 'सम प्रवर्तन करने वाली बुद्धि' ऐसा किया जा सकता है। (इसमें स्पियरमन की 'Two fector theory' तथा थर्स्टन की 'Primary mental abilities'' का अंतर्भाव सामान्यतया हो जाता है।)

इसी संदर्भ में 'विज्ञान' शब्द के अर्थ का विचार करना प्रस्तुत होगा। भागवत पुराण के एकादश स्कंध में बुद्धि के कार्य के वर्णन के प्रसंग में बुद्धेर्विज्ञान शक्तिता' ऐसा कहा गया है। आयुर्वेद ने स्थान-स्थान पर रोगनिदान, रोग चिकित्सा इत्यादि प्रसंगों में 'विज्ञान' शब्द का जो प्रयोग किया है उससे प्रतीत होता है कि स्पियर-मन जिस संबंध में cognitive process depends on one's capacity to educe various relations between ideas or objects when pre-sented ऐसा कहता है, और इसी प्रकार The presenting of any character togather with any relation or selective character tends to evoke immidaitely a knowing of the correlative character, ऐसा भी कहता है, वह सब 'विज्ञान' इस आयुर्वेदीय शब्द में समाविष्ट है। मानवीय बुद्धि के इस विशिष्ट प्रकार के सामर्थ्य में से ही शास्त्रों का उद्गम तथा विकास हुआ करता है। 'विचारणा' यह शब्द जो सुश्रुत ने प्रयोग किया है उसमें 'Reasoning' इस अंग्रेज़ी शब्द की अर्थच्छटा विद्यमान है। इसमें Ideational working and manipulation' इसका भी समावेश है। आयुर्वेद में न्याय-वैशेषिकों का तथा उनके जैसा तर्क विवेचन जो प्रस्तुत है वह 'विचारणान्तर्गत ही है। इस शब्द के साथ ही सुश्रुत ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया है।' उसका विचार करने के पूर्व 'अध्यवसाय' शब्द से आयुर्वेद को क्या अर्थ अभिप्रेत है यह जान लेना उपयुक्त होगा। 'अध्यवसाय', याने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निश्चय, यह Perceptual level पर जैसे दिखलाई पड़ता है वैसे ही 'Intellectual level' पर भी दिखलाई पड़ता है। चरक ने मन और बुद्धि इनके कार्य-भेद का वर्णन करते हुए Perceptual level के अध्यवसाय का इस प्रकार वर्णन किया है। मन की सहायता से इन्द्रियां अपने अपने विषय ग्रहण करती हैं, यह कथन कर वह बतलाता है—'जायते विषये तत्र या बुद्धि निश्चयात्मिका। व्यवस्यापितया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धि पूर्वकम्॥' (शा० स्था० अ. १, २३) प्रत्यक्ष आचरण से अध्यवसाय का संबंध होता है, यह बात इस श्लोक से स्पष्ट हो जाती हैं। जानबूझ कर और निश्चयपूर्वक ही आचरण घटित होता है यह चरक का कथन है; यही बात 'intellectual level' के अध्यवसाय की है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का यहां उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। गेस्टाल्ट पर्सेप्शन याने सन्निकर्ष या प्रत्यक्ष ज्ञान, और learning याने अवबोध इनके संबंध में सामग्र्य के तत्व का पुरस्कार करता है। इस प्रक्रिया से 'In-sight' का बहुत घनिष्ठ संबंध वह मानता है। 'From whole to parts' तथा 'From above downwards' यह गेस्टाल्ट की विचार प्रणाली का मूल सूत्र है। इन्द्रिय व्यापार और बौद्धिक व्यापार इन दोनों में ही यह सूत्र लागू होता है। सुप्रसिद्ध गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक वर्थाइमर ने आईंस्टाइन के सापेक्षता सिद्धान्त की मूलभूत ज्ञान प्रक्रिया का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया उस पर से यह स्पष्टतया दिखला दिया है। 'Productive thinking' में 'trial and error' विद्यमान न होकर अध्यवसाय ही विद्यमान हुआ करता है। अध्यवसाय का मतलब है 'Resolute understand-ing'; उसमें उद्देश्य की दृढ़ता, अहंभाव (Ego sense) की जाग्रतता और व्यवहार संबंधी परिवेश Behavioural Environment की स्पष्टता ये बातें समाविष्ट होती हैं। गीता का 'व्यवसायात्मिका बुद्धि एकैह कुरु नंदन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽ-व्यवसायिनाम्' यह श्लोक इस संदर्भ में हठात् हमें याद आता है। अंग्रेज़ी में यह बात इस तरह प्रस्तुत की जा सकती है—'An activity to solve problems by means of insight and understanding and to effect the solution implicitly before its overt execution.'

अब हम 'स्मृति रूप' मनोव्यापार की ओर अग्रसर होंगे। चरक ने 'दृष्टश्रुतानु-भूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते (सू० स्था०, अ० २, १४६) ऐसी व्याख्या की है। इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात तथा शास्त्रों के द्वारा प्रतीत तथा अनुभूत बातें याद करना, याने कारण पर से कार्य का स्मरण, 'रूपग्रहण' याने एक आकार पर से दूसरे सदृश आकार का स्मरण, 'सादृश्य ग्रहण'—इसमें रूप ग्रहण व्यतिरिक्त बातों का ही समावेश करना चाहिये—सविपर्यय याने विरोधी बातों पर से स्मरण, 'सत्वानुबंध' याने एकाग्रता-पूर्वक ध्यान से स्मरण, 'अभ्यास' अर्थात् पुनः पुनः एक ही बात के करने से होने वाला स्मरण, 'ज्ञानयोग' याने अंतर्ज्ञान से स्मरण; 'पुनःश्रुत' याने भूली हुई बातों के आकस्मिक श्रवण से होने वाला स्मरण, ऐसे स्मरण के आठ प्रकार हैं। इसपर से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह दिखलाई पड़ेगा कि 'memory' की अपेक्षया 'स्मृति' यह शब्द अयुर्वेदीय मनोविज्ञान में अधिक व्यापक अर्थ से प्रयुक्त हुआ है। मन की अनेक वृत्तियां स्मृति में समाविष्ट रहती हैं, ऐसा आयुर्वेद का कथन है। जागृति के अर्थ में भी 'स्मृति' का प्रयोग होता है। Recall, Retention, Recognition, Reproduction, Reminiscence इत्यादि निर्दिष्ट शब्दों के विभिन्न अर्थों के सिवा अन्य अर्थ भी 'स्मृति' शब्द में अंतर्भूत हैं। 'Memory' के अर्थ के संबंध में आधुनिक शास्त्रज्ञों में काफी मतभेद हैं। वर्गसन् प्रभृति विद्वानों की एतत्संबंधी भूमिका आयुर्वेद से मिलती जुलती है। मनस्तत्व की स्वतंत्रता तथा उसके मरणोत्तर अस्तित्व की संभावना का जिन जिन विचारकों ने पुरस्कार किया है उन सब की प्रायः आयुर्वेद जैसी ही भूमिका है।

स्मृति पर से अब स्वभावतः हमें स्वप्न की ओर बढ़ना होगा। अतः उसका विचार न कर अवशिष्ट विचार्य अंश की ओर हम दृष्टिपात करेंगे। आयुर्वेद ने स्वप्न के सात प्रकार बतलाये हैं। दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक तथा दोषज ये सात प्रकार हैं। चाक्षुष और श्रौत अनुभव तथा तद्व्यतिरिक्त इन्द्रियों तथा मनका अनुभव, मन ने जो अपेक्षा की हो वह तथा मन ने जो कल्पना की हो वह ये दोनों ही स्वप्न के कारण हुआ करते हैं। भाविक, अर्थात् भावी घटनाओं का वर्तमान कालिक ज्ञान देने वाला स्वप्न। ऐसे स्वप्न हो सकते हैं यह बात अब पाश्चात्य शास्त्रज्ञ भी मानने लगे हैं। इस संबंध में जे. बी. हाइन की पत्नी का उद्योग प्रशंसनीय है। उसने ऐसे चार हज़ार से अधिक स्वप्नों का संकलन किया है। दोषज स्वप्न वे हैं जो शरीर द्रव्यों के सन्निवेश में घटित होने वाले परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के जरिये रोग-निदान संभव होता है। रोगों के पूर्वरूप में, उपद्रव की अवस्था में, अरिष्ट लक्षणों में तथा अन्यत्र ऐसे स्वप्नों का आयुर्वेद में निर्देश आता है। वैसे ही मनुष्य की वातात्मक, पित्तात्मक, कफात्मक प्रकृतियों में भी ऐसे स्वप्नों का निर्देश आता है। यह आयुर्वेद का वर्गीकरण इतना व्यापक है कि उसमें फ्रायड, युंग आदि की स्वप्नमीमांसा अंतर्भूत हो जाती है। 'मनोऽभिघात' से मानस रोग होते हैं, यह निःसंदिग्ध रूप से प्रतिपादन करने वाले आयुर्वेद को फ्रायड, युंग आदि की बातें सर्वथा अभिनव प्रतीत होने का कोई कारण नहीं है। (सुश्रुत ने कुमारों के बारे में ऐसा कहा है 'नित्यं च एनं अनुवर्तेत प्रियशतैः अजिघांसुः एवं अनभिहतमनाः तु अभिवर्धते नित्यं उदग्रसत्व संपन्नो नीरोगः सुप्रसन्न मनाश्च भवति)' आधुनिक मनोविश्लेषण इससे अधिक क्या कहता है? केवल इतनी ही बात है कि आयुर्वेद ने इन बातों का विस्तार नहीं किया है। इसका कारण भी स्पष्ट है, आयुर्वेद ने दोषज स्वप्नों का चिकित्सा के लिए ही विचार किया है। वही उनका क्षेत्र है। इतर स्वप्नों का विचार 'स्वाध्याय विद' किया करते हैं। उनका स्वतंत्र शास्त्र है। अतः उसमें प्रवेश करने की विशेष आवश्यकता नहीं, ऐसी आयुर्वेद के जानकारों की धारणा मालूम पड़ती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अबतक सुश्रुत के पूर्वोक्त वचन के अंतर्गत प्रायः सभी शब्दों का विचार किया गया। केवल एक ही शब्द रह गया है, वह है संकल्प। 'मन' इस शब्द में सभी भावनायें—जिनके लिए हृदय शब्द का प्रयोग किया जाता है—अर्थरूप से समाविष्ट हैं। उसी प्रकार चिंतन, मनन, निदिध्यासन, कल्पना इत्यादि अर्थ भी उसमें आते हैं। तब ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि 'संकल्प' यह अलग शब्द सुश्रुत ने क्योंकर प्रयोग में लाया? मन सकल्प–विकल्पात्मक होता है, यह तो सभी भारतीय दर्शन मानते हैं। तब इस स्वतंत्र शब्द का औचित्य ही क्या है?

मेरे विचार से इस शब्द के द्वारा मानवीय व्यक्ति के संबंध में भारतीय विचारकों की जो विशेष धारणा है वह प्रगट होती है। जिस कर्म पुरुष के गुण सुश्रुत ने बतलाये हैं उसका 'कर्म' चरक के कथनानुसार (कर्म वाङ्मतः शरीर प्रवृत्तिः—सू० स्था०, अ. ११, ३४) वाणी, मन तथा शरीर इनकी एकाभिमुख प्रवृत्ति में से उद्‌भूत होता है वही कर्म संकल्प है। अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग इनके कारण शरीर तथा मन के कैसे कैसे रोग पैदा होते हैं यह आयुर्वेद में बतलाया है। उसी प्रकार वाणी के बारे में बतलाया है। चरक कहता है—'सूचका नृताकाल कलहाप्रिया बद्धा उपचार परुष वचनादिर्वाङ्मिथ्यायोगः' (सू० स्था० अ. ११, ३७)। जिसे आजकल 'Intelligence' कहते हैं उसके विकास के बारे में मनुष्य की वाक् प्रवृत्ति कितनी महत्वपूर्ण है इसका ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिकों को भी है। बुद्धिमत्ता के निर्धारण में Verbal capacity का कितना बड़ा हाथ है यह तो सभी लोग जानते हैं। लेकिन वाक् प्रवृत्ति आयुर्वेद की दृष्टि में काफी महत्वपूर्ण है। आधुनिक शास्त्रज्ञों को इस महत्व का ठीक पता लगा है, ऐसा नहीं प्रतीत होता। अर्थात् सामान्यतया भारतीय शास्त्रों की वाणी के विषय में जो भूमिका है वही आयुर्वेद की भी है यह बतलाने की जरूरत नहीं। आयुर्वेद की दृष्टि से प्राणतत्व पंचधा विभक्त है, पंचीकरण की प्रक्रिया के द्वारा। उसमें उदान वायु यह तेजस तत्वात्मक है। उसकी गति ऊर्ध्व होती है। सुश्रुत ने कहा भी है 'उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तम'। उसका 'नासानाभिगलांश्चचरेत्' ऐसा संचार बतलाया है। उसका 'कर्म वाक् प्रवृत्ति प्रयत्नोर्जा बलवर्ण स्मृतिक्रिया' (वाग्भट)। प्रवर्तन, प्रयत्न माने Striving, ऊर्जा माने तेजस्विता, बल, वर्ण माने चर्म का रंग, स्मृति ये सब वाणी का क्रियायें हैं। आधुनिक शास्त्रों के प्रकाश में इन पंक्तियों का विचार हमें विस्मय चकित कर देगा। वाक् प्रवृत्ति में सभी speech mechanism अंतर्निहित है। उसी में तेजस्विता और बल याने कर्मसामर्थ्य—Vitality—ये भी अंतर्भूत हैं। शरीर के वर्ण का गलग्रंथी (thyroid) से कैसे घनिष्ठ संबंध होता है यह आधुनिक शास्त्र बतलाते ही हैं। उसी प्रकार बुद्धिमत्ता तथा स्मृति इनके साथ इस ग्रंथी का कैसा संबंध है, यह भी ये शास्त्र बतलाते हैं। प्रस्तुत विषय की पोषक जो बात इसपर से निकलती है वह यह है कि 'Intelligence', 'Memory' और 'Speech' ये सब

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक दूसरे के साथ मिलकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास संपन्न करते हैं।

अब यहां पुनः हम आधुनिक मनोवैज्ञानिक संप्रदायों की कुछ बातों का विचार करें। डा० वाट्सन ने अपने 'Behaviour' के अनुसार यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वैचारिक प्रक्रिया शारीरिक प्रक्रियायें ही हुआ करती हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिये उसने 'Implicit movements' की कल्पना का आविष्कार किया हैं। कंठ, मुख, जिह्वा, हाथ इन सब की क्रियायें ही विचार की प्रक्रिया है। प्राणतत्व, मनस्तत्व तथा बुद्धितत्व इन सब का परित्याग कर देने वाले उक्त संप्रदाय ने ही यद्यपि उपर्युक्त प्रतिपादन किया है तो भी उसके द्वारा जिन बातों पर प्रकाश पड़ता है वे काफी महत्वपूर्ण हैं। विचार प्रक्रिया का वाक् प्रवृत्ति के साथ तथा उसी प्रकार शरीर प्रवृत्तियों के साथ घनिष्ठ संबंध कैसे है और चरक के कहे मुताबिक 'कर्म वाङ्मनः शरीर प्रवृत्ति' यह असलियत कैसे है, यह बात अनायास ध्यान में आ जाती है।

अब यहां हम एक दूसरे मनोवैज्ञानिक संप्रदाय का इसी प्रसंग में पर्यवेक्षण कर देखें। कोहलर ने बंदरों पर जो प्रयोग किये उन पर से यह सिद्ध हुआ है कि हथियारों के निर्माण तथा प्रयोग की प्रवृत्ति मनुष्य के समान ही बंदरों में भी दिखलाई पड़ती है। तब बंदरों और मनुष्यों में भेद कैसे हुआ ? इस पर कोहलर कहता है कि बंदरों की काल विषयक कल्पना मनुष्य की काल कल्पना की तुलना में अतीव संकुचित हुआ करती है। कोहलर के प्रयोगों तथा इतर सबूतों का आधार लेकर लेस्सी व्हाईट नामक अमेरीकी नृतत्व शास्त्रज्ञ ने इस संबंध में कुछ विवेचन प्रस्तुत किया है। वह काफी उद्बोधक है। उसने ऐसा दिखलाया है कि मनुष्य की काल-कल्पना दीर्घ होने का कारण उसकी मनःप्रक्रिया में सातत्य (Continuity) है और यह सातत्य, मनुष्य में शब्दात्मक संकेत निर्माण करने का जो नैसर्गिक सामर्थ्य है उसके कारण उत्पन्न होता है। (It was the introduction of symbols, word formed symbols, into the tool process that transformed anthropoid tool-behaviour into human behaviour. P. 45)। तात्पर्य यह है कि मनुष्य के इतर प्राणियों से भिन्न तथा श्रेष्ठ होने का कारण उसमें विद्यमान संकल्प शक्ति ही है। क्रिया शक्ति, वाक् शक्ति इनका एकरूप संमिश्रण ही मनुष्य है। क्रिया शक्ति का मूल मनुष्य का अहंभाव है। 'अहं' शब्द की माठराचार्य ने अपनी सांख्यकारिका वृत्ति में जो उपपत्ति बतलायी है वह विचारार्ह है, वे कहते हैं—'चतुषष्टिवर्णैः पदादि वैखरी पर्यन्ताभिधेयैः यत्किमपि अभिधीयते बुद्ध्या समर्थ्य तत्सकलमाद्यन्ताकार हकार वर्ण द्वयेन उपरिस्थित पिण्डीकृतानुकारिणा बिन्दुना भूषितः प्रत्याहारन्यायेन अहंकार इत्यभिधीयते।' आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य का इस पार्श्व भूमि से विचार नहीं करता। यही आयुर्वेदीय तथा आधुनिक मनोविज्ञानों का मूलभूत भेद है। अंत में आयुर्वेदीय मनोविज्ञान के एक महत्वपूर्ण अंग की चर्चा कर इस विषय का उपसंहार हम करेंगे। यह अंग वस्तुतः इतर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय दर्शनों में से ही आयुर्वेद में आया हुआ है। चरक ने कहा है कि रज और तम निकल जाने पर मनुष्य का मन जब स्वच्छ हो जाय और मनुष्य समाधि का अभ्यास करे तो उसमें अष्टविध सामर्थ्य उत्पन्न होता है। दूसरों में प्रवेश करना (आवेश्म), दूसरों के चित्त का ज्ञान (चेतसोज्ञान), इन्द्रियार्थों का इच्छानुसार उत्पादन करने का सामर्थ्य (अर्थानां छन्दतः क्रिया), अतीन्द्रिय दर्शन (दृष्टिः), अतीन्द्रिय श्रवण (श्रोत्रं), सब बातों के तत्व का स्मरण (स्मृतिः), अलौकिक कान्ति (कान्तिः), और इच्छानुसार दृश्य या अदृश्य होना (इष्टतश्चाप्यदर्शनम्) ऐसे आठ प्रकार के सामर्थ्य ऐसे समर्थ मनुष्य में उत्पन्न होते हैं, ऐसा चरक कहता है। ये मनुष्य के अपने सामर्थ्य के द्वारा संपादित सिद्धियां हैं। रुग्ण अवस्था में भी इनमें से कुछ बातों के अनुभव प्राप्त होते हैं। रोग अपने सामर्थ्य से ये अनुभव प्राप्त कराता है। चरक कहता है—'अन्तरेण त्वपस्तीत्रं योगंवा विधिपूर्वकम्। इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमधिगच्छति॥ इन्द्रियाणामृते दृष्टे इन्द्रियार्थानदोषजान्। नरः पश्यति यः कश्चित् इन्द्रियैर्न स जीवति॥ (इ. स्था. अ. ५, २४–२५)। तीव्र न कर या विधिपूर्वक योगाभ्यास न कर ही मनुष्य को यदि अतीन्द्रिय अनुभव प्राप्त हों तो वह मृत्यु के सन्निकट है ऐसा समझना चाहिये, यह आयुर्वेद का प्रतिपादन मनुष्य जीवन के एक बिलकुल नये पहलू पर प्रकाश डालता है। विकृत और अविकृत ऐसो दोनों अवस्थाओं में मनुष्य को जो अतीन्द्रिय अनुभव प्राप्त होते हैं उनका आधुनिक पद्धतियों से निर्धारण करना कठिन ही है। (क्योंकि ये शारीरिक तंत्र तथा द्रव्यों के अतीव निकटवर्ती हुआ करते हैं)। यह कार्य कितना कठिन है यह शास्त्रज्ञ लोग जानते ही हैं। (द्रष्टव्य—Emotions and Bodily changes, by Flaneers Dunbar) डा० अलेक्सिस कारेल के अनुसार बुद्धि के व्यापार शारीरिक व्यापार के रूप में अत्यल्प ही प्रगट होते हैं। बुद्धि से भी सूक्ष्म जो अतीन्द्रिय अनुभव हैं वे तो बुद्धि से अलग ही मनुष्य के अन्तर में प्रगट होते हैं। अब उनका निर्धारण करना बड़ा कठिन है। जितनी ही आंतरिक कोई बात होती है उतनी ही उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति कम होती जाती है। Para-psychology या परा मनोविज्ञान के संबंध में यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये।

यहां तक आयुर्वेदीय मनोविज्ञान की रूपरेखा तुलनात्मक पद्धति से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य अनेक पहलुओं वाला प्राणी है। इसी कारण मनोविज्ञान की अनेक शाखायें विकसित हुई हैं। मनुष्य का संपूर्ण ज्ञान इन सब के एकीकरण से ही प्राप्य है। वीर्य विपाक संबंधी विवाद के प्रसंग में सुश्रुत ने ऐसा उपसंहार किया है कि 'पृथकतया देखने वाले की दृष्टि से ही विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है लेकिन समझदार लोग तो संकल्प के साथ ही सब बातों का विचार किया

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करते हैं।' 'पृथक्त्व दर्शिनां एवं वदितां वादसंग्रहः। चतुर्णामपि समग्यं इच्छंत्येव विपश्चितः ॥') मनोविज्ञान के बारे में भी यही कहा जा सकता है। अपने ग्रंथ के अंत में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ इस बात से मिलती जुलती ही बात लिखता है। वह कहता है—

"भावि मनोविज्ञान कैसा होगा इसकी कल्पना पाश्चात्य विद्वान शायद न कर सकें। लेकिन विधि रूप से जो बातें बतलायी हैं उन्हें ही सिर्फ ग्राह्य मान लिया जाय" यह वुडवर्थ का कथन अतीव महत्वपूर्ण है। इस पर से हम भावि मनोविज्ञान का निम्न निर्दिष्ट चित्र अपने मन के सामने ला सकते हैं—

'शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
सत्वंमात्मी शरीरंच त्रयमेतत् त्रिदंडवत्।
लोकस्तिष्ठनि संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्'।

मनुष्य जीवन यह शरीर, इन्द्रियां, मन तथा आत्मा इनके संयोग पर ही अधिष्ठित है। ये एक-दूसरे से अविभाज्य हैं। एक के विना दूसरा व्यर्थ है। इस संयोग पर ही विश्व अधिष्ठित है।

नोट—मूल मराठी लेख में आवश्यकतानुसार परिवर्तन अनुवाद की सुविधा के लिए किये गये हैं। मूल लेख का भाव कहीं बदला नहीं गया है। —संपादक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

VIII

तंत्र मनोविज्ञान के मूलतत्व

पो. एस. शास्त्री

सभी तत्व तथा शरीर (भूतानि) ये जीव पर आधारित हैं और जीव का अस्तित्व ज्ञान तथा क्रिया इनसे घटित हुआ करता है। ज्ञान स्वतः सिद्ध है और क्रिया कार्याश्रित होती है। जीव की ज्ञान–शक्ति स्थल, काल और वस्तु इनसे नियंत्रित हुआ करती है। किन्तु प्रत्येक ज्ञेय वस्तु प्रमाता–जो वास्तव में महेश्वर ही है–अविभाज्य होती है। महेश्वर आनन्द तथा चैतन्य रूप है और परिवर्तनातीत है। परिवर्तन या क्रम यह सम–कालता में परिवर्तित हो जाता है: 'अक्रमानन्द चिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः'। जैसाकि सोमानन्द नाथ कहते हैं—"आत्मा अपने को शिव के, तथा शिव–शक्ति के रूप में जानता है।"

आत्मा का यह ज्ञान 'प्रकाश' के नाम से अभिहित होता है और ज्ञान–क्रिया–शक्ति को 'विमर्श' संज्ञा दी जाती है। प्रकाशमय चिद्रूप के कारण ही विश्व की अभिव्यक्ति संभव होती है। ज्ञाता 'चैत्यरूप प्रकाश' है। अतएव शिव सूत्र में कहा है—"चैत्यं आत्मा"। चैतन्य (चिद्रूपत्वं),साक्षात्कारिता (अन्योन्यमुखत्वं),और आनन्दमयत्व ये सब महेश्वरत्व समानार्थक शब्द हैं।

'चित्क्रियायाः प्रत्यवमर्शः शिवात्मचमत्कार लक्षणः आत्मा।'

आत्मा चेतन, स्वतंत्र तथा स्वयं प्रकाश है। अज्ञान से आत्मा जब बद्ध होता है तब विश्व उद्भूत होता है।

आत्मा की तीन अवस्थायें—जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति—हुआ करती हैं। जागृति में ज्ञान, स्वप्न में विकल्प और सुषुप्ति में अविवेक हुआ करता है। यौगिक अनुभव में आत्मा जब अपने को पहिचानता है तब विस्मय होता है।

आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान का जो विषय होता है वह शरीर है। आत्मज्ञान 'वितर्क' इस नाम से पहिचाना जाता है। लेकिन वह तत्व जो विषय वासना से भरा रहता है, जो अध्यवसाय जैसी क्रियाओं से युक्त होता है तथा जो बुद्धि, अहंकार और मनके रूप में अभिव्यक्त होता रहता है, वह चित्त है। यह अणु होता है और आत्मा की तरह ही कार्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करता है। चूंकि आत्मा अपने में ही सभी वस्तुओं को प्रगट करता है अतः वह नर्तक भी कहा जाता है और इसके नृत्य का रंगमंच है अन्तरात्मा। नृत्य के द्रष्टा इन्द्रियां हैं।

प्रकाश, आनन्द और स्वातंत्र्य ये कूटस्थ सत्ता के लक्षण हैं। जीव प्रत्यभिज्ञा या साक्षात्कार की खोज में तत्पर रहता है। यह साक्षात्कार कूटस्थ का 'आभिमुख्येन ज्ञान' है। जीव में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों होती हैं। ज्ञान यह प्रकाशरूपता है जबकि क्रिया यह विश्व-रचना ('जगन्निर्मातृत्व) का सामर्थ्य है। 'चित्' जो स्वच्छ और स्वतंत्र रूप होता है, विश्व के रूप में अभिव्यक्त होता है (स्फुरति)। यह 'चित्' ज्ञान, क्रिया या माया शक्तिरूप है। जब यह नियंत्रित होता है ('संकोच-प्रकर्षात्'), तब वह सत्व, रज, और तम युक्त मन (चित्त) के रूप में प्रगट होता है। मायाप्रमाता का स्वरूप ही चित्त है। अतः शिव सूत्र में कहा है 'चित्तं आत्मा'। चित्त या कूटस्थ के तीन नियंत्रक (मल) होते हैं। ये आणव, मायीय तथा कार्मण हैं जो उसे ढँकते हैं। यह चतुरात्म अर्थात् शून्य, प्राण, पुर्यष्टक और शारीर इस प्रकार चतुर्धा विभक्त होता है। इसका स्वभाव पैंतीस तत्वों से निर्धारित होता है। उसका स्वरूप पांच कंचुकों—कला, विद्या, राग, काल, और नियति—से घटित होता है। इतर दर्शनों में प्रतिपादित आत्मविषक सिद्धान्त वास्तव में आत्मा के आवरण (भूमिकायें) ही हैं। चार्वाकों का शारीरिक आत्मवाद, नैयायिकों का ज्ञानाश्रय आत्मवाद, मीमांसकों का बुद्ध्यात्मवाद, बौद्धों का ज्ञानसंतानवाद, पांचरात्रों की प्राण, असत्, वासुदेव आदि कल्पनायें, सांख्यों का विज्ञान कल पुरुष, वैयाकरणों का शब्द-ब्रह्म ये सब आत्मा के केवल आवरण ही हैं।

इच्छा शक्ति का संकोच यह आणव मल है, ज्ञान शक्ति का संकोच मायीय मल है और क्रिया शक्ति का संकोच कार्मण मल है।

इस तरह सर्व-कर्तृत्व का स्थान कला रूप ग्रहण करता है। सर्वज्ञत्व में से विद्या का प्रादुर्भाव होता है। पूर्णत्व में से राग उद्भूत होता है। नित्यत्व में से काल और व्यापकत्व में से नियति उद्भूत होती है। किन्तु चूंकि आत्मा ही वस्तुओं के बाह्य विषयों के रूप में अभिव्यक्त होने का कारण है अतः वही स्रष्टा है। इतर स्थल कालों की वस्तुओं को अभिव्यक्त न होने देकर आत्मा उनसे महत्तर बनता है। वस्तुओं की अभिव्यक्ति का कारण होकर वह स्थापक बनता है। उनकी भिन्नताओं को अभिव्यक्त कर वह विलयकारी बनता है। वस्तुओं को प्रकाशित कर वह अनुग्रहीता कहलाता है। ये सब शुद्ध चित् के परिस्फुरण या स्पंदन हैं।

माया दशा में चित् शक्ति अपना स्वरूप अवगुंठित कर प्राण शक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है। तब वह बुद्धि, देह आदि पर निर्भर हो जाती है और नाड़ी सहस के मार्ग का अनुसरण करती है। इस अवस्था में वह मध्यम नाड़ी रूप में अवस्थित होती है क्योंकि सभी वृत्तियां इसी अवस्था में से उद्भूत होती तथा उसी में विलीन होती हैं। इस मध्यनाड़ी या ब्रह्म नाड़ी का विकास ही चिदानंद कहा जाता है। यह अवस्था

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जीवन्मुक्ति है। इस स्थिति में चित्त हृदय में उतर आता है और सभी विकल्प प्रशापित हो जाते हैं। इस अविकल्प परामर्श के कारण ही प्रमाता शरीरादि के द्वारा दूषित नहीं होता। यह चिदानन्द लाभ ही परमयोगी की समाधि भी है।

छत्तीस तत्व—

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल और भूमि।

शिव यह इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक तथा केवल पूर्णानन्द स्वभाव रूप है।

जब शिव विश्व की सृष्टि करने की इच्छा करता हैं तब उसका प्रथम स्पन्द ही इच्छा शक्ति है।

सृष्टि किया जाने वाला विश्व शिव की अहंता से जब आच्छादित होता है तब उसे 'सदाशिव' यह रूप प्राप्त होता है।

सृष्ट विश्व, जो अहंता से आच्छादित होता है, वही ईश्वर है।

अहंता और इदंता की एकता का आकलन ही शुद्ध विद्या है।

माया की परिभाषा-'स्व स्वरूपेण भावेषु भेद प्रथा' यह है।

ईश्वर को जब माया आच्छादित कर आवृत करती है तब उसे मर्यादित विषयी का रूप प्राप्त होता है। इसे पुरुष कहते हैं। यही संसारी है जो कर्म से वद्ध तथा मायामोहित हुआ करता है।

सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व आदि जो पूर्ण शिव के धर्म हैं वे नियंत्रित होने पर कला, विद्या, राग, काल, और नियति इनको जन्म देते हैं। कला की परिभाषा 'किञ्चित्कर्तृता हेतु' यह है। विद्या यह 'किञ्चिज्ज्ञत्व कारण' कही गयी है। राग 'विषयाभिष्वंग' रूप है। काल का लक्षण 'भावानां भासना भासनात्मकानां क्रमः अवच्छेदकः भूतादिः' ऐसा वतलाया गया है। नियति यह 'नियमन हेतु' है। ये पांच परमशिव के 'कंचुक' कहे जाते हैं।

प्रकृति त्रिगुणों की साम्यावस्था है। बुद्धि यह निश्चयकारिणी और विकल्प प्रतिविम्व धारिणी ऐसी कही गयी है।

अहंकार अभिमान का साधन है। मन यह संकल्प साधन है। इन तीनों से अन्तःकरण वनता है। यह भूतेन्द्रियादि कार्य-वर्ग का कारण भी है। काल, स्पर्श, रूप, रस, और गंध ये विषय हैं। इनको ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रियां हैं जो पांच हैं। वाक्, पाणि, पायु आदि और उपस्थ ये कर्मेन्द्रियां हैं।

शब्दादि पांच तन्मात्राओं में से पांच सत्व उद्भूत होते हैं।

इस संवंध में यह वाक्य प्रसिद्ध है—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'यथान्यग्रोधवीजस्थः शक्ति रूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदय वीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ।।'

हृदय बीज में—जो कि परा भट्टारिका स्वरूप है—संपूर्ण विश्व अंतर्भूत है ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

IX

भारत में आधुनिक मनोविज्ञान

नी. र. व. पाण्डे

पारम्परिक मनोविज्ञान दर्शनों में सम्मिलित था और केवल तार्किक विश्लेषण से अपनी समस्याओं के उत्तर खोजता था। आधुनिक मनोविज्ञान दूसरे विज्ञानों की तरह प्रत्यक्ष अवलोकन और प्रयोग के आधार से अन्वेषण करता है।

इस आधुनिक मनोविज्ञान की उमर सौ साल से ज्यादा नहीं है। भारत वर्ष में इसका प्रादुर्भाव करीब पचास वर्ष पहले हुआ।

डॉ० बोस व श्री सेनगुप्ता इन्होंने १९१५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला खोली। इसके बाद ढाका, मैसूर, लखनऊ, पटना, इलाहाबाद, जबलपुर, बंगलौर, पूना आदि जगहों पर भी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाएं खोली गयीं। गत दस वर्ष में कई प्रान्तों में शैक्षणिक व व्यावसायिक मार्ग दर्शन के लिए कार्यालय खोले गये। रक्षा मन्त्रालय ने मनोविज्ञान अन्वेषण शाखा खोली और हाल ही में राष्ट्रीय शिक्षा समिति ने मनोमिती शाखा खोली है।

मनोमिती

भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने सबसे ज़्यादा काम मनोमिति में किया। मनोमिती याने मन का मापन। इस शब्द प्रयोग से कई लोग आश्चर्य करते हैं "क्या मन किसी मापदण्ड से नापा जा सकता है? क्या मन यह कोई कागज़ या कपड़ा है?"

यह आश्चर्य निर्मूल है। शालाओं में परीक्षा लेने वाले शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञान का मापन ही करते हैं। इसी परीक्षा पद्धति को, सांख्यिकी, अनेक व्यक्तियों का सर्वेक्षण इत्यादि उपायों से अधिक कार्यक्षम करना, यही मनोमिति है।

मनोमिति में बुद्धि का मापन करने का शास्त्र सबसे प्रगल्भ है। १९२५ में हरबर्ट राइस ने बिने नामक मनोवैज्ञानिक के बुद्धि परीक्षा के आधारपर एक हिन्दुस्तानी परीक्षा बनाई। यह परीक्षा १३८८ छात्रों को दी गयी। इसकी विश्वसनीयता '८६ है। सम्पूर्ण विश्वसनीयता का माप १ रहता है। अर्थात् राइस की परीक्षा की विश्वसनीयता काफी ऊँची है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस परीक्षा के आधार पर राइस ने भिन्न भिन्न जातियों की तुलना की। उसमें ब्राह्मणों के माध्य (average) अंक १०७ और दूसरों के १०० निकले। हरिजनों के अंक अन्य जातियों से कम नहीं पाये गये।

डा० सोहन लाल ने भी विभिन्न जातियों के तौलनिक बुद्धिस्तर के विषय में अन्वेषण किया है। उन्होंने एक हिन्दुस्तानी बुद्धि परीक्षा का १४१० बालकों पर प्रयोग किया। उसमें ब्राह्मणों के और शूद्रों के अंकों में कुछ फरक आया। परन्तु अन्य जातियों में और ब्राह्मणों में फरक नहीं आया। ब्राह्मण और शूद्रों का फरक भी नगण्य सा है।

बम्बई के प्रसिद्ध मनोवेत्ता कामत ने टर्मन और मेरिल के बुद्धि परीक्षा के आधार पर मराठी और कन्नड़ भाषाओं में एक नयी परीक्षा बनाई। ७३६ कन्नड़ और ३३५ मराठी छात्रों को यह परीक्षा दी गयी। शिक्षकों ने अपने छात्रों के बुद्धि के बारे में जो अनुमान किये उनसे इस परीक्षा के आधार पर किये हुए अनुमान ·५ तक मिलते हैं। (पूरा मेल १ कहलाता है) जो लोग लिखना पढ़ना नहीं जानते उनके बुद्धि का मापन लिखित कसौटियों से नहीं हो सकता। इसलिये उनके लिए मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक परीक्षाओं का प्रयोग करते हैं। डा० भाटिया ने ऐसी एक बुद्धि परीक्षा प्रणीत की है। इस परीक्षा के अंकों का स्कूल के परीक्षा के अंकों से ·७ के करीब मेल है।

रक्षा मन्त्रालय के मनोविज्ञान शाखा ने पचासों मानसिक मनोमितियां बनाई हैं। यह सारी गुप्त रक्खी गयी हैं। परन्तु इनके आधार पर किये कुछ अन्वेषण प्रकाशित हुए हैं। हाल ही में चार बुद्धि परीक्षाओं में १४ साल से लेकर ४४ साल तक के २०००० व्यक्तिओं के अंकों की जांच डॉ० नी. र. व. पाण्डे व श्री. पी. एस. चौधरी इनके नाम पर प्रकाशित हुई है। इससे यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया गया है कि २३ साल के उमर के बाद बुद्धि का विकास नहीं होता। बल्कि अन्य ज्ञानेन्द्रियों की तरह बुद्धि पर उमर का बुरा परिणाम होता है।

Thematic Apperception Test में किसी व्यक्ति को कुछ चित्र दिखाकर उस चित्र के विषय में एक छोटी सी कहानी लिखने का आदेश दिया जाता है। इन कहानियों को पढ़कर मनोवैज्ञानिक उस व्यक्ति के बारे में कुछ निष्कर्ष निकालता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि पहले देखे हुए चित्रों से अभी दिखने वाले चित्र के परिणाम में कुछ फरक पड़ता है या नहीं? इसकी जांच करने के लिए रक्षामन्त्रालय के मनोविज्ञान शाखा ने एक प्रयोग किया। इसका फलित यह निकला कि पिछले चित्रों का परिणाम नगण्य रहता है।

सेनाधिकारी बनने के लिए इच्छुक उम्मीदवारों में नेतृत्वादि गुण कहां तक हैं, इसकी परख करने के लिए एक परीक्षा ली जाती है। इस परीक्षा में उम्मीदवार को दूसरे उम्मीदवारों की सहायता से कुछ काम करने का आदेश दिया जाता है। वह किस तरह दूसरों की सहायता करता है और उनको सहायता देने के लिए प्रेरित करता है, इससे उसके नेतृत्वादि गुणों की परख की जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस पद्धति पर यह प्रश्न उठता है कि अगर अलग अलग परीक्षक इस परीक्षा का प्रयोग करें तो उनकी राय एक ही होगी या नहीं ?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए रक्षा मन्त्रालय ने एक प्रयोग किया। उससे पता लगा कि इस परीक्षा में अलग अलग परीक्षकों के मत में '६८ से '६३ तक मेल होता है।

सेनाधिकारी बनने के इच्छुक उम्मीदवारों में सैनिक गुण कहाँ तक हैं, इसकी परीक्षा करने के लिए Selection Board नियुक्त किये गये हैं। इस परीक्षा में नेतृत्व, सहकार्य, धैर्य, अनुशीलन आदि गुणों की जाँच होती है। इन सारे गुणों के मूलभूत मनस्तत्व कौन से हैं, इनकी चिकित्सा करने के लिए रक्षा मन्त्रालय के मनो-वैज्ञानिकों ने अवयव विश्लेषण (Factorial Analysis) की गाणितिक रीति से अन्वेषण किया। उसका फलित निकला कि बुद्धि, व्यक्तिगत सम्बन्ध और निश्चय ये तीन सैनिक गुणों के मूलभूत आधार हैं।

इन आधारों में बुद्धि का महत्व कितना है इस पर रक्षा मन्त्रालय ने खास अन्वेषण किया है। उसका फलित निकला कि बुद्धि परीक्षाओं में जो उम्मीदवार अच्छे सिद्ध होते हैं उनमें से अधिकांश बाद में अच्छे सेनाधिकारी भी सिद्ध होते हैं।

शिक्षा

मनोमिति शिक्षा मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध रखती है। इस क्षेत्र में भी कुछ काम हुआ है। श्री सेन ने अलीपुर रेफमेंटरी के कुछ उन्मार्गगामी बालकों का अध्ययन किया। सर्वश्री मुकर्जी, बनर्जी, मुजुमदार, जलोटा आदियों ने वर्तमान परीक्षा पद्धति की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की। डा. झेन्दरकर ने, शिक्षा के परिणाम कहां तक हो सकते हैं, इसका अन्वेषण किया। प्रायोगिक मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव होने के पहले समझा जाता था कि गणित पढ़ने से केवल गणित ही नहीं आता बल्कि बुद्धि तेज होकर गणित के व्यतिरिक्त और भी क्षेत्रों में पहले से अधिक कार्यक्षम होती है। प्रायोगिक मनोविज्ञान ने यह धारणा गलत सिद्ध की है। इसलिए कौन सी शिक्षा का क्या परिणाम होता है इसकी खोज करना आवश्यक है। यही काम डा० झेन्दरकर ने किया है।

प्रो. गोपाल स्वामी ने दर्पण में देखकर लिखने की क्रिया सीखने में कौन से मानसिक तत्व अनुस्यूत हैं, इसकी जांच की। प्रो. मैती व प्रो. शास्त्री इन्होंने स्मरण शक्ति के बारे में अन्वेषणा की।

सामाजिक मनोविज्ञान

शिक्षा मनोविज्ञान से समाज मनोविज्ञान अधिक व्यापक है। इसमें भी कुछ थोड़ा काम हुआ है। भारत में हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, ब्राह्मणेतर, औत्तर, दाक्षिणात्य आदि समूहों में जो तनातनी है उसकी मनोवैज्ञानिक जाँच प्रो. गार्डिनर मर्फी के नेतृत्व में की गयी। विभिन्न प्रान्तों से इस विषय में मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रतिवृत्त प्रसिद्ध किये।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनोविश्लेषण

'आधुनिक मनोविज्ञान' इस शब्द प्रयोग से कई लोग फ्रॉयड का मनोविश्लेषण, इतना ही अर्थ समझते हैं। परन्तु मनोविश्लेषण यह प्रमाण शब्द शास्त्र नहीं है। उसमें सत्यापनक्षम (Verifiable) सिद्धान्तों की अपेक्षा कल्पनाजाल ही अधिक है। इसलिये मैंने उसका निर्देष सबसे अन्त में किया है।

इस क्षेत्र में भी भारत में कुछ काम हुआ। जी. बोस ने विरोधी इच्छा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव में दो परस्पर विरोधी इच्छाएं रहती हैं। सक्रिय इच्छा अक्रिय इच्छा का दमन करती है। फ्रॉयड ने (ambivalence) द्वन्द्वभावना की कल्पना प्रसृत की है। बोस के अनुसार, विरोधी इच्छाओं का एक समय कार्यान्वित होकर उनमें से एक का अजागृत हो जाना यही ambivalence का स्वरूप है।

निष्कर्ष

अभी तक भारतीय मनोविज्ञान का जो सर्वेक्षण किया उससे स्पष्ट होता है कि यह सारा अन्वेषण एकदम खंडशः है। किसी भी क्षेत्र में यहां कोई नई व प्रबल परम्परा निर्माण नहीं हुई। विज्ञान के सभी शाखाओं में आधुनिक भारत की यही अवस्था है। परन्तु गणित या भौतिकी में एकाध अन्वेषण ऐसा दिखलाई पड़ता है जो जागतिक दर्जे का माना गया है। मनोविज्ञान में भारत को इतना भी भाग प्राप्त नहीं हुआ। खैर, भविष्य पर दृष्टि लगाकर हमें निश्चय से काम करना चाहिये।

भारत में अच्छे बड़े ग्रन्थालय न होने के कारण भारतीय मनोवैज्ञानिकों का बहुत सा अन्वेषण मुझे पढ़ने को नहीं मिला। अर्थात् अनेकों का नामोल्लेख रह गया होगा। वस्तु से अन्वेषण मूलरूप में नहीं पढ़ पाया हूँ। इससे भी विवेचन में दोष हो सकता है। उसे संबन्धित विद्वान् क्षमा बुद्धि से देखें।

नीचे सूची रूप में भारतीय मनोविज्ञान का थोड़ा परिचय कराता हूँ। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक के नाम के आगे उसका कार्य क्षेत्र दिया गया है।

अमीन, डी. एल.—बुनाई कौशल्य।

अगरवाल—डी. आर. वोर्न के आकार-तक्त से बुद्धिमापन।

अस्थाना, एच. एस.—शैशाक कसौटी।

अस्लाम, एम. डी.—प्रतिक्रिया काल व स्वभाव।

उदय शङ्कर—हिन्दी बुद्धि परीक्षा।

कमला कान्त—थकावट

कामत—मराठी व कन्नड़ में टर्मन व मेरिल के अनुसार बुद्धि परीक्षा।

काली प्रसाद—थकावट।

कुप्पू स्वामी—प्राणी मनोविज्ञान, क्षुधा व पलायन।

गाङ्गुली, डी.—टर्मन और मेरिल की कसौटी।

गाङ्गुली, एम. एल.—प्रतिक्रिया काल।

गाङ्गुली, एच.सी.—आवाज का कार्य-शक्ति पर परिणाम।

गाङ्गुली, एम. एन.—हिप का काल-मापक।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गोपाल स्वामी, एम. व्ही.—रोना और सीखना हास्य, बालार्ड की कसौटी पर भिन्न जातियों की बुद्धि की तुलना।

गोविन्द स्वामी, एम.व्ही.—मनोविद्युक्रिया और बुद्धि।

घोष, एस. पी.—यान्त्रिक कौशल्य की कसौटियां।

घोष, पी.—स्टेनक्विस्ट कसौटी।

घोष, वी.—केली की रचना शक्ति की कसौटी।

घोष, जी. बी.—केली की रचना कसौटी और घन रचना।

घोष, आर.—व्हर्नियर का काल मापक और प्रतिक्रिया।

चोयिया, एफ. एस.—शालेय-योग्यता-परीक्षा।

चौधरी, उमा—बङ्गाल में नगर और ग्रामीण लोगों की परीक्षा।

जलोटा, एस.—बुद्धि परीक्षा, वर्तमान परीक्षा पद्धति।

दत्ता, ए.—वर्ण और बृहत्ता।

दानी, एस. के.—सामान्य बुद्धि परीक्षा।

देसाई, के.जी.—गुजराती बुद्धि परीक्षा।

परसराम—मिल मजदूरों की कर्मनिष्ठा।

पाल, जी.—वेवर के नियम का विस्तार, स्मरण।

प्रसाद, के.—मिल कर्मचारियों की थकावट।

फॉरेस्ट, जीन—शिक्षकों की शिक्षा।

बैनर्जी, एम एन.—रसों का मनोविज्ञान।

बैनर्जी, एच.सी.—वर्तमान परीक्षा पद्धति।

बङ्गाली बुद्धि परीक्षा—द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए।

बिसी, एस. सी.—यन्त्र कर्म का मनोविज्ञान, मनोरुग्णता प्रश्नावलि।

बोस, एस. के.—मानसिक कसौटियां, शिक्षा व व्यवसाय के बारे में मार्ग दर्शन, अवधान, स्पर्श।

बोस, जी.—विरोधी इच्छाएं, बृहत्स्नायु शक्ति मापक, निर्बल चेतक का संवेदन।

बोस, एन. के.—स्मरण।

बोस, एस.—बुद्धि की शीघ्रता।

भट्टाचार्य, सी. सी.—व्यक्तित्व परीक्षा।

भाटिया, सी. एम.—बुद्धि परीक्षा, ग्रामीण विभाग।

भौमिक, टी. पी.—बंगला परीक्षा, द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए।

मर्फी, गार्डनर—भिन्न समूहों में संघर्ष।

महालनवीस, पी. सी.—बुद्धि परीक्षा से भविष्यकथन, डीअर बोर्न आकार तख्ते का मूल्यांकन।

मित्र, एस.सी.—वर्ग और बृहत्ता संवेदन।

मुकर्जी, के. सी.—मनः शक्ति, उष्णता भान, स्पर्शभ्रम।

मुकर्जी, के.आर.—मिलों में दुर्घटनाएं।

मुकर्जी, एन.—वर्तमान परीक्षा पद्धति।

मजुमदार, एस. एस.—वर्तमान परीक्षा पद्धति।

महरोत्रा, एस. एम.—मनोमितिविषयक संख्याएं।

मैती, एच. पी.—स्टनफर्ड की कसौटियां, वर्तमान परीक्षा पद्धति, स्मरण।

मोहसिन, एस. एम.—काम और क्रीडा, स्पिअरमन की बुद्धि विषयक उपपत्ति।

रमाराव, के जी.—यान्त्रिक उपकरणों में आस्था, सामान्य बुद्धि की कसौटियाँ, वेग।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

राइस, सी. एच.— हिन्दी और पंजाबी में बुद्धि परीक्षा।

राजनारायण— मनोविश्लेषण और तुष्ट का मनोविज्ञान।

राजाराम कुमार— हास्य और आत्म-स्थापना।

राय, पी.— भीलों की बुद्धि।

राय, एस. एन.— वैद्यक, कानून आदि व्यवसाय।

राय, डी. एन.—बंगाली बुद्धि परीक्षा-द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए।

सरकार, जे. के.— प्रक्षेपण और अन्तःक्षेपण, अवधान।

सामन्त, एस. एन.— डोअरबोर्न के आकार तख्तों से बुद्धिमापन, प्रतिक्रिया काल।

सिन्हा, डी.—प्रत्यक्षानुभव में सामाजिकता।

सेन, डी.एन.—मनोविद्युत् और थकावट।

सेन, जे. एम.—उद्वर्तनी बालक।

सेन, गुप्ता एन. एन.—अवधान, चूहे और चक्रव्यूह।

सोहन लाल—बुद्धि परीक्षा, रक्षा मनोविज्ञान।

हनुमन्तराव, जी.—हाथी और रस्सिओं का उपयोग।

हार्पर, एडविन— विशिष्ट बुद्धि परीक्षा।

शास्त्री, एन. एस. एन.—भाषा पटुत्व, स्मरण, माख्खेओं का वर्तन, मनोवियुत् और चित्रों के परिणाम।

शेन्दरकर, डी. डी - शिक्षा के परिणामों की मर्यादा।

श्रीमाली, पी. एल.—गुडिनफ के बुद्धि परीक्षा का भारतीय स्वरूप।

श्रीनिवास राव, एस. व्ही.—बुद्धि परीक्षा में योगायोग।

यह सारा साहित्य Indian Journal of Psychology, शिक्षा, Indian Journal of Educational Research, Journal of Education and Psychology, Punjab Education Journal, Teaching, Journal of Vocational and Educational Guidance आदि में उपलब्ध है। कुछ स्वतन्त्र प्रबन्ध रूप में उपलब्ध हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

X

भारतीय मनोविज्ञानः पर्यवेक्षण

नारायण शास्त्री द्राविड़

प्रस्तुत पुस्तक में जिन निबंधों का संकलन किया गया है वे भारतीय मनोविज्ञान के अन्यान्य पक्षों में से कुछ का ही संक्षिप्त रूप उपस्थित करते हैं। हर लेखक की अपनी अपनी प्रतिपादन तथा विवेचन शैली है, और मनोविज्ञान के अपने अपने स्वीकृत क्षेत्र में किन बातों का समावेश करना चाहिये, किनका नहीं, इस बात के निर्णय का दायित्व लेखक पर ही छोड़ दिया गया है। इसका परिणाम यह होना अनिवार्य था कि समूची पुस्तक में से भारतीय मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं का सुस्पष्ट तथा सुसंघटित स्वरूप न झलक पड़े। हर संकलनात्मक ग्रंथ में इस प्रकार की अस्पष्टता रह जाना स्वाभाविक ही है। भारतीय मनोविज्ञान जैसे विषय से संबंधित ग्रंथ में इस अस्पष्टता का पाया जाना तो और भी स्वाभाविक है। भारतीय मनोविज्ञान अन्य विभागों के समान ही दर्शन का अभिन्न अंग रहा है। मन, मनोवृत्तियां और मानसिक जीवन इन सब विषयों का विभिन्न दृष्टिकोणों से जो विचार भारतीय दार्शनिकों ने किया है वह दर्शन के अन्य पक्षों को नजर के सामने रख कर ही। इस कारण मनोविज्ञान और अन्य दार्शनिक विभाग इनका अंतर भारतीय दर्शन में विशेष स्पष्ट कभी नहीं रहा है। अतएव मनोविज्ञान की चर्चा करते हुए तत्व शास्त्र, ज्ञान मीमांसा आदि की विस्तृत या आनुषंगिक चर्चा टालना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह कठिनाई अवश्य है। यह कठिनाई इस पुस्तक के प्रायः सभी लेखों में हमें दिखलाई पड़ती है। फिर भी इस पर से यह मान लेना ठीक नहीं होगा कि भारत में मनोविज्ञान का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन प्राचीन काल में किया नहीं जाता था। प्राचीन काल की विभिन्न अध्ययन–पद्धतियों के निदर्शक प्रमाण आज उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी इतना हम बेझिझक कह सकते हैं कि मन संबंधी अनेक वैज्ञानिक तथ्य भारतीय मनीषियों को अज्ञात नहीं थे। इतना ही नहीं, मनोजीवन के जिन पक्षों का आधुनिक काल में भी ठीक तरह अध्ययन नहीं किया जा रहा है उनका बड़ी गहराई के साथ योग दर्शन, तंत्र, आयुर्वेद आदि में प्राचीन पंडित विचार किया करते थे। आजकल परामनोविज्ञान के नाम से जिस विषय का यत्र–तत्र निर्देश और थोड़ा बहुत विचार भी प्रस्तुत किया जाता है वह भारतीय मनोविज्ञान की आधारभित्ति थी। सामान्य मनोविज्ञान इसी का अपकृष्ट या निष्कृष्ट रूप समझा जाता था। सामान्य और असामान्य या विकृति संबंधी (Abnormal) मनोविज्ञान यह विभाग भारतीयों को कभी मान्य नहीं हुआ है।

यह बात ऊपरी तौर से केवल विषय विभाग से ही संबंधित अतएव उपेक्षणीय समझी जा सकती है। लेकिन हमें इसमें प्राचीन और अर्वाचीन वैचारिक दृष्टियों का मूलगामी फर्क ही दिखलाई पड़ता है। आधुनिक मनोविज्ञान, और वैसे देखा जाय तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विज्ञानमात्र ही, सामान्य मानसिक घटनाओं को ही अपना मुख्य विषय मानता है। असामान्य मनोवृत्तियों—जैसे प्रतिभा, अन्तःस्फूर्ति, पर चित्त ज्ञान आदि—का विचार अनिवार्य होने के कारण ही आधुनिक मनोविज्ञान में एक आनुषंगिक अध्ययन के रूप में समाविष्ट किया गया है। किन्तु आजसे पच्चीस वर्ष पूर्व के पाश्चात्य वैज्ञानिक मनीषी असामान्य की सत्यता भी मानने के लिये तैयार नहीं थे। किन्तु इंग्लैंड और अमेरिका में संस्थापित अतिमानस गवेषणा संस्थाओं (Psychical Research Societies) में अतिमानस संबंधी तथ्य अधिकाधिक संकलित होने लगे और थोड़े ही समय में यह संग्रह इतना बड़ा हो गया कि इसकी उपेक्षा करना ही असंभव हो गया। ब्रॉड जैसे वैज्ञानिक दृष्टि के विचारक को भी अतिमानस की सत्ता स्पष्टतया माननी ही पड़ी। अमेरिका के ड्यूक विश्वविद्यालय ने अतिमानस के अध्ययन के हेतु एक सुसज्जित प्रयोगशाला की नींव डाली जिसका पिछले कुछ वर्षों में काफी विस्तार हुआ है। अबतक इस प्रयोग-शाला ने भी तथ्यों का संकलन ही किया है, उनकी कोई वैज्ञानिक उपपत्ति प्रस्तुत करने में प्रयोगकर्ताओं को सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

यह स्थिति कुछ विचित्र सी है। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में असामान्य (Abstractions) की कल्पना से ही विचार का प्रारंभ किया जाता है और सामान्य को असामान्य का एक परिस्थिति सापेक्ष मूल्य माना जाता है। ब्रॉड ने इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। पुराने गणितज्ञ वृत्त को पूर्ण आकृति मानकर परवलय (Parabola), अति परवलय (Hyparbola) आदि शंकुच्छिन्न आकृतियों को वृत्त की विकृति समझते थे। आज के गणितज्ञ वक्र रेखा निर्मित आकृति मात्र को एक सामान्य स्वरूप द्विपद समीकरण के रूप में प्रथम निर्धारित करते हैं और बाद में इसके घटक प्रमुख गुणक को विभिन्न मूल्य प्रदान कर वृत्त, परवलय आदि विभिन्न वक्राकृतियों को इस समीकरण से निष्कृष्ट करते हैं। असामान्य में सामान्य का समावेश कर डालने की आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृत्ति इतनी आगे बढ़ गयी है कि सरल रेखा को भी वक्र रेखा का ही एक परिस्थिति सापेक्ष स्वरूप माना जाने लगा है। समानान्तर रेखाओं को अनन्त दूरी पर एक दूसरे को काटने वाली रेखायें मानना भी उपर्युक्त प्रवृत्ति का ही उदाहरण है।

मनोविज्ञान में यदि अबतकअसामान्य को प्रधानता प्राप्त नहीं हुई है तो इसका कारण यही हो सकता है कि यह विज्ञान अभी बहुत ही अनुन्नत है और उसकी भावी प्रगति की दिशा भी अबतक निश्चित नहीं हो पायी है। प्रायोगिक मानस शास्त्री मनोविज्ञान को मन का विज्ञान ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में संपूर्ण शरीर का विज्ञान (Science of organism) ही मनोविज्ञान है, मन जैसे अदृश्य, अज्ञात वस्तु से उसका कोई संबंध नहीं है। किन्तु परामनोविज्ञान के अध्येता इस विचार से सहमत नहीं हो सकते हालांकि मन का स्वतंत्र अस्तित्व प्रस्थापित करने के लिये अपेक्षित वैज्ञानिक साधन अबतक उन्हें उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसका मतलब यह है कि विभिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के एकीकरण का समय अभी तक निकट नहीं आया है। यह स्वाभाविक भी है। किसी भी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रारंभ में अपने क्षेत्र को विभिन्न विभागों में बांट लेना ही पड़ता है। उसके बिना बारीकी के साथ विषय पर अध्ययन संभव नहीं होता। लेकिन विभागीय अध्ययनों के फलस्वरूप जब अनेकानेक वैज्ञानिक तथ्य असंघटित रूप में इकट्ठे हो जाते हैं तब इनकी परस्पर संगति का विचार करना आवश्यक हो जाता है। मनोविज्ञान आज भी 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' इस हालत से ही गुजर रहा है। यह बात अलग है कि उसके अन्तर्गत आज मतभेद या दृष्टिभेद केवल सैद्धान्तिक (Theoratical) नहीं हैं जैसा कि वे कुछ समय पूर्व थे। गेस्टाल्ट, बिहेवियरिज़्म, फंक्शनलिज़्म, स्ट्रक्चरलिज़्म आदि मनोवैज्ञानिकवादों का पहले जैसे आज बोलबाला नहीं है। लेकिन परामनोविज्ञान (Para-Psychology), विकृत मनोविज्ञान (Abnormal Psychology), मनोविश्लेषण (Psycho analysis), सामान्य मनोविज्ञान (General Psychology) आदि के रूप में अध्ययन पद्धतियों या अध्ययन विषयों के भेद मनोविज्ञान के क्षेत्र में बने ही हुए हैं।

भारतीय मनोविज्ञान का प्रारम्भ से ही असामान्य और सामान्य को एक सूत्र में समाविष्ट करने की ओर झुकाव रहा है। इतना ही नहीं, उसने असामान्य को सामान्य का मूलाधार मानकर ही मनोविज्ञान की रचना की है। योग दर्शन के पहले सूत्र के भाष्य में ही यह बात स्पष्ट कर दी गयी है। योग का स्वरूप 'चित्तवृत्ति निरोध' है, इस सूत्र का स्पष्टीकरण करते हुए योग के भाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं: 'स च सार्व-भौमश्चित्तस्य धर्मः'। अर्थात् 'योग' यह कम अधिक मात्रा में चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त आदि सभी अवस्थाओं में विद्यमान होता है। चित्त की सामान्य अवस्था इस प्रकार योगरूप ही है। तो भी योग का पूर्ण निरोधात्मक स्वरूप निरोध समाधि में ही प्रगट हुआ करता है। इस पर से सामान्य मनोवृत्तियां योग का ही अपकृष्ट स्वरूप हैं, यह बात स्पष्ट हो जाती है। सांख्य दर्शन का प्रकृति और विकृति रूप से मूलतत्वों का वर्गीकरण भी, जो योग दर्शन ने स्वीकार किया है, इसी बात की पुष्टि करता है। 'प्रकृति' याने स्वाभाविक नैसर्गिक या सामान्य वह तत्व नहीं जो स्थूल, दृश्य तथा सामान्य अनुभवगम्य है। ऐसे तत्वों को 'विकृति' कहा जाता है। जो दृश्य या स्थूल मन के स्वरूप तथा प्रक्रियाओं के संबंध में जानकारी प्राप्त करने की भारतीय दार्शनिकों की पद्धति सामान्य तथा 'अन्तदर्शन' इस नाम से पहचानी जाती है। आधुनिक मानसिक अध्ययन पद्धति इसके विपरीत 'बहिर्दर्शन' या 'निरीक्षण' (इसमें प्रयोग भी शामिल हैं) इस संज्ञा से निर्दिष्ट होती है। इन दो पद्धतियों का भेद मोटे तौर पर यद्यपि स्पष्ट ही है तो भी अन्तर्दर्शन के स्वरूप को ठीक तरह समझाने की विशेष आवश्यकता है। अंग्रेजी में जिसे Introspection कहा जाता है वह भारतीयों का अन्तर्दर्शन नहीं है। बाह्य दर्शन तथा आन्तरिक दर्शन तथा मूलभूत भेद प्रायः सभी भारतीय विचारकों को ज्ञात था। विषय (Object) के रूप में किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वस्तु का जो ज्ञान इन्द्रियों को हुआ करता है उसे बाह्य निरीक्षण कहते हैं। यदि मनोवृत्तियों का भी इसी प्रकार विषय के रूप में ज्ञान संभव हो तो उस ज्ञान को बाह्य-निरीक्षण या निरीक्षण कहने में कोई हर्ज नहीं। केवल वैशेषिक दार्शनिकों ने ही इस प्रकार के ज्ञान की संभावना स्वीकार की है। लेकिन उन्होंने भी मन के द्वारा प्राप्त होने वाले मनोवृत्तियों के ज्ञान को इतर इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले बाह्य विषयों के ज्ञान से अलग ही रक्खा। प्रायोगिक पद्धतियों से मन का पूर्ण ज्ञान प्राप्य है, यह बात किसी भी भारतीय विचारक को मान्य नहीं है। इसके लिये विभिन्न कारण विभिन्न दर्शनों ने बतलाये हैं। उदाहरणतः बुद्ध दर्शन मन को परमाणुरूप, आन्तर व अनिरीक्ष्य मानते हैं। कुछ उसे सत्व गुण का सार समझकर उसकी इन्द्रियागोचरता साबित करते हैं। कुछ उसे कई भागों में बंटा हुआ किन्तु अतीव सूक्ष्म समझते हैं। ऐसे मन का ज्ञान यदि संभव है तो वह मनोवृत्तियों के जरिये ही। अर्थात् मनोवृत्तियों का अनुभव करते हुए ही उनके जरिये उनका अपना तथा उनके अधिष्ठानभूत मन का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञान पद्धति को कुछ विचारक 'A priori psychology' यह नाम देते हैं। इस नाम के पीछे यह कल्पना छिपी हुई है कि मनोवृत्तियों को उनके विषयों से क्रमशः अलगाना ही उनके ज्ञान का साधन या स्वरूप है। वह अलगाना एक मनोवृत्ति के द्वारा दूसरी के निरीक्षण के ज़रिये नहीं हो सकता। इस निरीक्षण मनोवृत्तियों को बाह्य वस्तुओं का ही स्थान हम सकता। प्रदान कर देते हैं। आन्तरिकता (Intimacy, privacy) मनोवृत्तियों के ज्ञान की प्रमुख विशेषता है। यही विषयिता (Subjectivity) है जिसकी कई अवस्थायें (Grades of subjectivity) भारतीय तत्वचिन्तकों ने बतलायी हैं। विषयिता की एक अवस्था छोड़ दूसरी अवस्था की ओर अग्रसर होने पर ही छूटी हुई अवस्था या मनोवृत्ति का उसके विषयों से अलगाव संपन्न होता है। इस अलगाव को ख्याल में रखते हुए हम मनोवृत्तियों के क्रमिक ज्ञानों को स्वातन्त्र्यानुभूति की विभिन्न श्रेणियां भी (Grades of freedom) मान सकते हैं। इस विचारानुसार मन का अधिकाधिक सूक्ष्म निरीक्षण, अधिकाधिक मानसिक या आध्यात्मिक जीवन-पद्धति के पुरस्कार से ही संभव हो सकता है। आधिभौतिक जीवन की सामान्य स्थिति में आत्मा तथा मन विषयों में निमग्न हुए ही रहते हैं। इन विषयों में से—शरीर, इन्द्रिय आदि में से—मन का क्रमिक अलगाव यही आध्यात्मिक जीवन का सोपान है। और इस जीवन-मार्ग में अग्रसर होने पर ही मन का ज्ञान हो सकता है निरीक्षण या (Introspection) अन्तर्दर्शन मात्र से नहीं। जो कुछ निरीक्षण है वह सब बाह्य है अतएव वह अमानसिक है। आधुनिक मानस शास्त्रियों ने मनोवृत्तियों के संबन्ध में जो तथ्य प्रकाश में लायें हैं उन्हें उक्त भारतीय विचार सरणी अस्वीकार तो नहीं करेगी लेकिन उन्हें मानसिक मानने के लिये वह कतई तैयार नहीं होगी। उदाहरणतः रसेल का 'Analysis of mind' में किया हुआ मनोवृत्तियों का विश्लेषण लीजिये। सभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनोवृत्तियों को रसेल ने संवेदना (Sensation) तथा (Image) काल्पनिक प्रतिकृति में वर्गीकृत किया है। जहां तक यह वर्गीकरण ठीक है वहां तक वर्गीकृत मनोवृत्तियां वाह्य वस्तुएं ही हैं, ऐसा मानने में भारतीय मानस शास्त्री को कोई आपत्ति नहीं होगी। लेकिन जब वर्गीकरण में त्रुटियां दिखलायी पड़ने लगेंगी तब मनोवृत्तियों का वास्तविक मानसिक अंश वर्गीकृत नहीं हो पाया है, यह निष्कर्ष स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। रसेल के इच्छा संबंधी विश्लेषण तथा वर्गीकरण को ही लीजिये। अनेक उदाहरणों के द्वारा रसेल ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि इच्छा भौतिक शक्ति (Force) से भिन्न कोई तत्व नहीं है। भौतिक शक्ति का अस्तित्व कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता और यह भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि इच्छा इस शक्ति के रूप में ही प्रथम शरीर में और बाद में वाह्य वस्तुओं में प्रगट होती है। लेकिन इस शक्ति के पीछे मनुष्य के मन में भी, केवल शरीर के अन्दर नहीं, कुछ है या नहीं, इस प्रश्न का हल उक्त कथन से प्राप्त नहीं होता। भारतीय विचारकों का मतलब है कि ऐसा कुछ तत्व अवश्य हुआ करता है जो स्थूल या सूक्ष्म भौतिक शक्तियों से नितान्त भिन्न है। इस बात का निर्णय किसी प्रायोगिक पद्धति से नहीं हो सकता, इसका एकमात्र साधन मनोवृत्तियों का आध्यात्मिक अनुभव ही है।

भारतीय दर्शनों में मनोवैज्ञानिक प्रमेयों का विश्लेषण इतर प्रमेयों के समान खंडन-मंडन के तरीके से ही किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस विश्लेषण में ऐतिहासिक विवेचन के उपयुक्त सिल्सिला (continuity) बहुत कम पाया जाता है। किसी सतही (Superficial) निरीक्षक को भारतीय मनोविज्ञान में भिन्न भिन्न विद्वानों के विभिन्न मतों का समुच्चय मात्र ही उपलब्ध होगा, लेकिन सूक्ष्मता से देखने पर इन मतमतान्तरों में विकास की कई अवस्थायें हमारी नज़र में आये बिना नहीं रहेंगी। यदि प्रयत्न किया जाय तो भारत के मनोवैज्ञानिक साहित्य में से Physiological psychology, comparative Psychology, Animal Psychology जैसी अन्यान्य शाखायें निष्कृष्ट करना असंभव नहीं है। इस लघु निबंध में इन सब विषयों की चर्चा नहीं की जा सकती। तथापि वेद, उपनिषत्, भगवद् गीता, आयुर्वेद, दर्शन आदि की मनोवैज्ञानिक कल्पनाओं का संक्षिप्त दिग्दर्शन यहां किया जायगा। उस पर से, भारत का एतत्संबंधी वाङ्मय कितना सुविस्तृत है, इस बात का कुछ अन्दाज़ा लग सकता है। अभी इस दिशा की ओर अनुसंधाता लोग अग्रसर नहीं हुए हैं। गवेषणा के लिये प्रभूत सामग्री पड़ी हुई है। कम से कम दो तीन दशकों के विद्वानों के सुनियोजित प्रयत्नों से ही भारतीय मनोविज्ञान के विस्तार का ठीक ठीक आभास प्राप्त हो सकता है।

भारत का सबसे प्राचीन वाङ्मय वेद है जो ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चार प्रकारों तथा संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक इन तीन खंडों में विभक्त है। श्रौत सूत्र, कल्पसूत्र और गृह्य सूत्र और इसी प्रकार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष आदि छः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेदांग इन सब का भी वैदिक वाङ्मय में ही अन्तर्भाव किया जाता है। इनमें से प्रत्येक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन सामग्री प्राप्य है। तो भी वेदों के रूप में हम केवल ऋग्वेद तथा अथर्व वेद के कुछ प्रमुख मनः संबंधी विचारों की ही यहां चर्चा करेंगे। इससे अधिक के लिये यहां अवसर नहीं है। उपनिषदों की कल्पनाओं पर विचार, उनकी मौलिकता का ख्याल करते हुए, स्वतंत्र रूप से ही यहां किया जायगा।

मनुष्य के आन्तरिक जीवन के आधारभूत तत्व के रूप में मन की पहचान ऋग्वेदकर्ता ऋषियों को अच्छी तरह है। मन का चन्द्रमा के साथ संबंध वेदों में माना गया है। चन्द्रमा रात्रि का प्रकाशक होने के नाते वह मनुष्य के स्वप्न जीवन का उद्भासक समझा गया है, ऐसा इस पर से प्रतीत होता है। चन्द्रमा के विपरीत सूर्य जागृति का अधिष्ठाता माना गया है। मन की शक्तियां बाह्य पदार्थों की शक्तियों से भिन्न हैं, इतना ही नहीं, वे उन की आधार हैं यह कल्पना भी स्पष्टतया ऋग्वेद में उपस्थित की गयी है। विश्व की सृष्टि करने वाला ईश्वर स्वयं अभौतिक ('अनस्था' याने अस्थि रहित अतएव अभौतिक) होते हुए भी भौतिक ('अस्थन्वंतं अर्थात् 'अस्थियुक्त') सृष्टि करने में समर्थ है, यह वर्णन इस बात का प्रमाण है।

मन को शरीर के बाह्य अंगों से अलग और महत्वपूर्ण स्थान वेदों में दिया गया है, इतना ही नहीं, उसकी असामान्य शक्तियों का अनेक स्थानों पर वैदिक वाङ्मय में उल्लेख आया है। 'मनसोरेतः' इस प्रयोग से, भौतिक शरीर के समान ही मन का भी वीर्य हुआ करता है, यह बात स्पष्ट होती है। 'स्वधा' यह शब्द भौतिक शरीर की किसी शक्ति का वाचक न होकर मन की आन्तरिक शक्ति का ही वाचक है। यह बात इस शब्द के शाब्दिक विश्लेषण से भी ज़ाहिर हो जाती है। 'स्व' याने अपने ही द्वारा धारण किया हुआ, अर्थात् मनुष्य की अपनी ही जो आन्तरिक शक्ति होती है उसी का नाप 'स्वधा' है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में, सृष्टिपूर्व काल में स्वधा के आधार पर ही विश्व का आधारभूत तत्व अपना अस्तित्व बनाये हुए था, ऐसा 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' इस पाद में वर्णित है। 'स्वधा' का दूसरा अर्थ स्वयं धारित या आत्मनिर्भर ऐसा भी होता है जिस पर से यह भाव पगट होता है कि मन की आत्मशक्ति किसी बाह्य आधार की अपेक्षा नहीं करती। मन के स्वतंत्र इन्द्रिय होने की कल्पना ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में स्पष्टतया उल्लिखित है। मन को विभिन्न वृत्तियां का —काम, संकल्प आदि का— यद्यपि वेदों में विश्लेषण उपलब्ध नहीं होता तथापि कुछ मनोवृत्तियों का विस्तार के साथ वर्णन वैदिक वाङ्मय में अवश्य प्रस्तुत है। मन्यु सूक्त, श्रद्धा का वर्णन करने वाला सूक्त तथा अन्य छिटपुट सूक्त इस बात के प्रमाण हैं। केवल इन्हीं कुछ इनीगिनी मनोवृत्तियों का वेदों में वर्णित होना शायद इनके विशेष महत्व के आकलन के कारण हो। देवताओं का क्रोध और उनके प्रति श्रद्धाभाव ये दो मनोवृत्तियां वैदिक ऋषियों को विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत हुई हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

यद्यपि स्पष्ट शब्दों में अन्य मनोवृत्तियों का निर्देश करने वाले सूक्त वेदों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं दिखलायी पड़ते तथापि 'स्कंभ', 'काल' आदि व्यापक संज्ञाओं की आड़ में मन और मनोवृत्तियों का ही वर्णन हम वहां प्राप्त करते हैं। स्कंभ सूक्त में मन का परोक्ष-रूप से विश्व के आधार शक्ति के रूप में उल्लेख है। इस तथा अन्य सूक्तों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों को मन का अस्तित्व शरीर, इन्द्रिय तथा अन्य भौतिक पदार्थ इनसे कहीं अधिक व्यापक रूप में स्वीकार्य है। हरेक शरीर में उसी का अपना मन होना चाहिये और यह मन दूसरे शरीर के मन से अलग होना चाहिये, यह बात स्पष्टतया वेदों में उल्लिखित नहीं मिलती। वैदिक मन यह बहुत कुछ वैश्विक मन है जो सांख्य दर्शन के 'महत्तत्व' से समानता रखता है।

इस संबंध में एक बात विशेष रूप से विचारणीय है। मन और प्राण, अपान व्यान, उदान, समान आदि वायुओं और इसी प्रकार तप तथा शब्द शक्ति इन विभिन्न आन्तरिक तत्वों को एक दूसरे से स्पष्टतया वेदों में अलगाया नहीं गया है। वैसे तो ये सभी आन्तरिक ही तत्व हैं लेकिन इनमें श्रेणी भेद है यह कल्पना उपनिषदों में ही विषद की गयी है। इसका मतलब यह नहीं कि इन सब तत्वों को वेदों ने आपस में घपला दिया है। तैतिरीय आरण्यक में प्राण, अपान आदि का शरीर धारक वायु तत्व के रूप में सुस्पष्ट निर्देश विद्यमान है। उसी प्रकार सृष्टि का निर्माण कर सकने वाले शब्द या व्याहृति का स्वतंत्रतया निर्देश अन्यत्र उपलब्ध है। 'तप' या शरीर की आन्तरिक उष्णता को अनेक तरीकों से तीव्र कर उसके ही द्वारा अन्यान्य कार्य सम्पन्न किये जाने की बात भी कई स्थानों में वेदों में वर्णित है। कहीं कहीं विज्ञान के रूप में भी आन्तरिक शक्ति का उल्लेख आता है। इन सब निर्देशों पर से मन संबंधी वैदिक कल्पनाओं को हम प्राणादि वायु, उनको परिचालित करने वाली शब्द शक्ति, इस शब्द शक्ति को जागृत करने वाला तप, इस तप का अधिष्ठान स्वधा शक्ति और इस सब का आधारभूत मन इस क्रम से उपस्थित कर सकते हैं।

आभ्यन्तर वाक्तत्व के साथ मन के अभेद की कल्पना उपर्युक्त विवेचन में ध्यान देने योग्य है। 'Logos' के रूप में इस कल्पना का पुरस्कार पाश्चात्य विचारकों ने भी किया था। किन्तु यवन दार्शनिकों के अनन्तर किसी भी पाश्चात्य विचारक ने इस कल्पना के परिष्कार का विशेष प्रयत्न नहीं किया। अधिकतर बाह्य तत्व (Objective reason) के रूप में ही 'Logos' को परवर्ती पाश्चात्य विचारकों ने ग्रहण किया किन्तु वैदिक काल से लेकर पंद्रहवीं सोलहवीं सदी के भारतीय वैयाकरणों तक सभी ने शब्द या वाक् तत्व के आध्यात्मिक स्वरूप को हमेशा ध्यान में रखा। वाक् के आध्यात्मिक याने मानसिक स्वरूप के ठीक आकलन के कारण ही व्याकरण-दर्शनाकार 'स्फोट' सिद्धान्त को प्रस्थापित तथा विकसित कर सके। स्फोट का शाब्दिक अर्थ है क्षोभ (व्याकरण में इसका अलग पारिभाषिक अर्थ किया गया है। उसका विचार यहां करने की कोई आवश्यकता नहीं)। स्वधा रूप मन को तप या विशेष प्रकार की साधनाओं के द्वारा जब उष्णता बढ़ायी जाती है (लाक्षणिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ में) तब उसका अन्तर में प्रक्षोभ होने लगता है। यह प्रक्षोभ प्राणापानादि वायुओं की सूक्ष्म (आणविक) गति, उसमें से मध्यमा, वैखरी आदि शब्दों की अभिव्यक्ति, इस अभिव्यक्ति का विभिन्न वाक्यों, वाक्यार्थों आदि के रूप में आविष्कार और तदनन्तर अर्थान्तर्गत समस्त विश्व की उत्पत्ति इस मोटे क्रम से विश्व की स्फोटात्मकता का वैयाकरणों ने समर्थन किया है। मन के इस वागात्मक पक्ष का निर्देश कर वेदों ने व्याकरण दर्शन के आविर्भाव की ही नींव डाली है। इस संबंध में यह वैदिक मंत्र 'चत्वारी वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः' मननीय है। इसमें यह बतलाया गया है कि मन के तत्व को जानने की इच्छा करने वाले विद्वान चार प्रकार की वाणियों के स्वरूप को पहचानते हैं। ये वाणियां हैं परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी। इनमें अन्तिम वैखरी मन का अभिव्यक्त शब्दों (Articulate sounds) के रूप में मुख के द्वारा वाह्य विश्व में विकीर्ण स्वरूप है। मोटे तौर पर आधुनिक परिभाषा को अपनाते हुए हम कह सकते हैं कि मन का वस्तु निर्देशात्मक या तात्पर्यात्मक (Intentional or meaning aspect) जो पहलू है वही शब्द या Proposition है।

जिस प्रकार अर्थात्मक विश्व मन के वागात्मक पहलू के विकास का परिणाम माना गया है उसी प्रकार वस्त्वात्मक या भौतिक विश्व भी मन के प्राणापानादि पंच तत्वात्मक पहलू का ही परिणाम माना गया होगा, ऐसा हम समझ सकते हैं। आभ्यन्तर से वाह्य की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण करने की प्रक्रिया में प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच आन्तरिक वायुओं को ही आकाश, पृथ्वी, भौतिक वायु, (यह आन्तरिक वायु तत्व से बिलकुल भिन्न समझना चाहिये), जल तथा तेज इन पंच महाभूतों का जनक यदि माना गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस संबंध में सुस्पष्ट निर्देश वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध भले ही न हो तो भी यह विचार वैदिक ऋषियों का मन की कल्पना में अन्तर्निहित है, ऐसा निश्चय से कहा जा सकता है।

वेदों के वाद हम उपनिषदों की ओर बढ़ेंगे। जिन बातों का केवल आभास संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि में प्राप्त होता है उनका सुविकसित रूप उपनिषदों में देखने में आता है। विज्ञान और आनन्द इन आभ्यन्तर अवस्थाओं का मन के संबंध में उल्लेख वेदों में नहीं के बराबर है लेकिन इनका सुस्पष्टतया श्रेणीबद्ध रूप उपनिषदों में अच्छी तरह वर्णित है। मन केवल एक व्यापक तत्व के रूप में ही नहीं किन्तु प्रत्येक शरीर के स्वतंत्र घटक तथा प्रेरक तत्व के रूप में उपनिषदों ने परिगृहीत किया है। मन के अस्तित्व के सम्बन्ध में तार्किक प्रमाण भी बृहदारण्यक ने उपस्थित किया है (देखिये—'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' जो आधुनिक तर्कों से विशेष भिन्न नहीं है। मन और मनोवृत्तियों का फरक भी उपनिषदों में अच्छी तरह प्रस्तुत किया गया है। काम, संकल्प, चिकित्सा, द्वेष, धृति, अधृति,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ह्री, धी, भय इत्यादि का मनोवृत्तियों में परिगणन कर, इनका मन में ही वास्तव्य है. ऐसा वृहदारण्यक में कहा है। इन मनोवृत्तियों का वर्गीकरण सामान्य से क्रमशः विशेषीभाव के तत्व पर अधिष्ठित है। (क्योंकि 'काम' मनोवृत्तियों का सामान्य स्वरूप है तो ह्री, धी और भय ये उसके विशेष प्रकार हैं)।

मन के सम्बन्ध में एक नयी बात जो उपनिषदों में दिखलायी पड़ती है वह तत्संबंधी कोष-कल्पना की। मनुष्य को या जीव को अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द इन पांच कोषों या खोलों से बना हुआ या ढँका हुआ तत्व ऐसा तैत्तिरीय ने बतलाया है। यहां दो प्रकार की विचार-सरणियों का सम्मिश्रण दिखलाई पड़ता है। एक यह कि अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द ये एक के भीतर एक ऐसे आवरण हैं जिनमें से अंतिम के भीतर आवृत वस्तु ही मनुष्य का वास्तविक तत्व है। दूसरी विचार सरणी के अनुसार मनुष्य के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय इत्यादि पांच श्रेणीबद्ध पूर्ण स्वरूप हुआ करते हैं। इनमें से एक-एक में मनुष्य पूर्णतया उलझा हुआ रहता है। जब तक एक का वह परित्याग नहीं करता तबतक दूसरे का वह परिग्रह नहीं कर पाता। जैसे अन्नमय अवस्था से परे प्राणमय की अवस्था तक पहुँचने के लिये अन्नमय का पूर्ण परित्याग आवश्यक है। यही बात अन्य अवस्थाओं को भी लागू है। वेदान्त के अद्वैत और विशिष्टाद्वैत इन दो प्रमुख संप्रदायों के विकास में उपर्युक्त विचार-सरणियों का महत्वपूर्ण योग रहा है।

मन के स्वरूप के संबंध में श्वेताश्वतरोपनिषद् में काफी विचार प्रस्तुत है। सांख्य-दर्शन की मूलभूत अवधारणा कि 'मन यह अहंकार में से उद्भूत हुआ है और वह स्वयं सत्व, रज और तम इन तीन गुणों का समुच्चय है' (इनमें सत्व का अंश प्रधान होता है)—इस उपनिषद् से ही सर्वप्रथम निष्कृष्ट की गयी है। मन का प्राणादि वायुओं से अलग बिल्कुल स्वतंत्र रूप में अस्तित्व भी उपनिषदों में स्पष्ट किया गया है। प्राणमय कोष से मनोमय कोष को अधिक आभ्यंतर बतलाकर मन की प्राण से सूक्ष्मतरता और श्रेष्ठत्व को ही उपनिषदें बतलाती हैं।

मन को कुछ उपनिषदों ने इससे अधिक व्यापक रूप में भी देखने की कोशिश की है। प्राण और विज्ञान के बीच की मनुष्य के आन्तर जीवन के विकास की अनेक सीढ़ियां मानकर मन को इन सब में सामंजस्य प्रस्थापित करने वाले एक व्यापक साधन के रूप में कल्पना कुछ उपनिषदों ने उपस्थित की है। इस व्यापक रूप के लिये सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है अन्तःकरण जिसका विशेष प्रयोग परवर्ती दार्शनिक वाङ्मय में ही विशेषतया पाया जाता है। अन्तःकरण के बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार ये चार अंग मोटे तौर पर माने गये हैं। सामान्यरूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों ने अन्तःकरण के चार घटकों में से एक न एक को प्रमुख तथा शेष को गौण ठहराकर अपने अपने विचार संप्रदायों की रचना की है। उदाहरणतः बौद्ध दर्शन ने मन के मननात्मक कार्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हरा कर अन्तःकरण को बाह्य वस्तुओं का केवल आलोचक निर्धारित किया। अहंकार, धारणा आदि मानसिक प्रक्रियाओं को महत्व देना बौद्धों ने आवश्यक नहीं माना। सांख्य ने चित्त पक्ष को (थोड़ा बहुत बुद्धि को भी उन्होंने महत्व दिया था) मानसिक जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। वेदान्त ने अहंकार के कार्य को इतर मानसिक प्रक्रियाओं की अपेक्षया विशेष रूप से आवश्यक ठहराया। न्याय ने बुद्धि, मन और चित्त इन तीनों के कार्यों के समन्वय का प्रयत्न जरूर किया लेकिन उसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली।

इस संबंध में उपनिषदों ने कोई निश्चयात्मक भूमिका नहीं अपनायी है। कहीं तो बुद्धि, मन आदि अलग अलग अन्तःकरण संज्ञा के अभिधेय समझे गये हैं और कहीं इन सब को अन्तःकरण का अनुभव भी बतलाया गया है। सांख्य और वेदान्त ने इस दुविधा को ही दूर करने के लिये शायद अन्तःकरण और उसकी वृत्तियां ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया हो। इसमें अन्तःकरण बुद्धि है लेकिन उसकी वृत्तियों में मनन, धारण, अहंकार आदि का अंतर्भाव किया जा सकता है।

उपनिषदों की मनःसंबंधी अवधारणा केवल आध्यात्मिक (Subjective) ही नहीं है। यदि वह अन्तर्दर्शन सापेक्ष एक वैयक्तिक अवधारणा ही होती तो उसमें से अंत में ब्रह्म की कल्पना का विकास ही नहीं हुआ होता। उपनिषत्कार ऋषियों ने केवल आत्मनिरीक्षण ही नहीं किया अपितु विश्व का भी निरीक्षण बड़ी बारीकी के साथ उन्होंने किया था। किन्तु वैज्ञानिकों की तरह आधिभौतिक दृष्टि से बाह्य विश्व का निरीक्षण करना तत्वान्वेषण के लिये उन्हें उपयुक्त नहीं जँचा। बाह्य विश्व का भी आध्यात्मिक निरीक्षण ही उनके अन्तर्निहित सत्य की जानकारी के लिये उन्होंने अपनाया। अन्तर्यामी ब्राह्मण में इस बात का सुस्पष्ट उल्लेख उपलब्ध है। पृथ्वी, जल, तेज आदि सभी बाह्य पदार्थों में जो तत्व समाविष्ट हैं वह इस प्रकार इस ब्राह्मण में वर्णित है —
'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यां यमंयति यः पृथिवीं वेद, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम् ....।' जो पृथिवी के भीतर समाविष्ट है, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी को जानता और नियमित करता है किन्तु जिसे पृथिवी न जानती है न नियमित कर सकती है, वह पृथिवी का आत्मा है, उसी प्रकार जल आदि का भी। इस वर्णन में आध्यात्मिक दृष्टि का ही पुरस्कार किया गया है। पृथिवी या किसी अन्य भौतिक पदार्थ में जो तत्व अन्तर्भूत है उसका ज्ञान बाहर से पृथिवी का निरीक्षण कर प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये तो द्रष्टा को पृथिवी रूप होकर ही अंतर्निरीक्षण करना होगा। कोई इस पर पूछ सकता है कि जड़ पृथिवी के साथ किसी भी चेतन द्रष्टा का ऐक्य हो कैसे सकता है, और यदि कदाचित् ऐसा ऐक्य संपन्न भी हो तो भी ऐसा जड़ीभूत द्रष्टा आत्मनिरीक्षण क्या करेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पृथिवी का जाड्य उतना ही सत्य या असत्य है जितना मनुष्य के शरीर घटक किसी अवयव का। यदि किसी से पूछा जाय कि तुम तो चेतन हो लेकिन तुम्हारा हाथ चेतन है, इस बात का क्या सबूत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तुम दे सकते हो ? तो इसका उत्तर देना बहुत कठिन हो जायगा। हाथ हिलता है इसलिये वह चेतन है, यह जवाब समाधानकारक नहीं हो सकता, क्योंकि हाथ को स्वयं हाथ नहीं हिलाता अपितु जिसका वह है वह उसे हिलाता है। फिर भी हम अपने हाथ, पैर या अन्य किसी अंग को अचेतन नहीं मानते। इसी प्रकार पृथिवी अचेतन इसीलिये प्रतीत होती है कि उसका संपूर्ण विश्व के एक घटक के रूप में हम न विचार करते हैं न कर पाते हैं। भौतिक शास्त्री भी पृथिवी को जड़ विश्व के एक घटक के रूप में ही देखता है, याने आंशिक दृष्टिकोण से ही उसका वह विचार करता है। यदि व्यापक और सर्व समावेशी दृष्टि से पृथिवी का विचार करने का प्रयत्न किया जाय तो उसमें प्रतीत होने वाला जाड्य बिलकुल लुप्त हो जाय। ऐसी दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि ही है, यह सभी उपनिषदों का मन्तव्य है। इस दृष्टि को वाह्य और आभ्यंतर शरीर और उससे भिन्न वस्तुएं इत्यादि भेद दिखलायी ही नहीं पड़ सकते। उसे एक ही आत्मा ('य आत्मा सर्वान्तरः' य आत्मा सर्वानुभूः') सर्वत्र व्याप्त प्रतीत होगा और विश्व में भी मनस्तत्व की विद्यमानता का प्रत्यय प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगा। इस दृष्टि का उत्कृष्ट वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् में इन शब्दों में प्रस्तुत है—

'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।' अर्थात् इसमें अन्तर्वाह्य का भेद या ज्ञान-अज्ञान का ही भेद विद्यमान नहीं होता। यह सर्वभेदातीत दृष्टि है। इसकी 'तुरीय' यह संज्ञा भी रखी गयी है।

उपनिषदों के मनोविचार को यहीं छोड़कर अब हम महाभारत की ओर बढ़ेंगे। 'महाभारत' का भारतीय वाङ्मय में वेदों जितना ही महत्व माना जाता है। 'वेदान ध्यापयामास महाभारत पञ्चमान्' इस प्राचीन उक्ति में पंचम वेद के रूप में ही महाभारत की गणना की गयी है। सुप्रसिद्ध 'भगवद्गीता' महाभारत का ही एक छोटा सा अंश है। लेकिन गीता के विचारों की परिपुष्टता देखते हुए उसका अलग विवेचन करना ही उचित होगा। प्रस्तुत पुस्तक में 'महाभारत में अन्तःकरण का स्थान' इस शीर्षक का जो लेख समाविष्ट है उस पर से महाभारत के मनोवैज्ञानिक विचारों की कुछ झलक पाठकों को प्राप्त होगी ही। उससे अधिक और अज्ञात ऐसे तथ्य यहां प्रस्तुत करने का हम इरादा नहीं रखते। केवल महाभारतीय मनोवैज्ञानिक विवेचन की कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात कर ही हम आगे बढ़ेंगे।

इस संबंध में पहली ध्यान देने योग्य बात यह है कि महाभारत में जो भी दार्शनिक विचार आये हैं वे सब आनुषंगिक हैं, उनका वहां स्वतंत्र स्थान नहीं है। गीता जैसे कुछ गंभीर दार्शनिक खंड ग्रंथ यत्रतत्र महाभारत में जरूर पाये जाते हैं। लेकिन उनका मूल ग्रंथ के संदर्भ से विशेष मेल नहीं बैठता। यही कारण है कि आज भी यह विवाद बना हुआ है कि गीता का उपदेश समर भूमी पर वास्तव में हुआ था या किसी परवर्ती विद्वान ने इस पुस्तक की रचना कर महाभारत में इसको समाविष्ट कर दिया था। दूसरी बात यह विचारणीय है कि महाभारत काल में भारतीय दार्शनिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विचारों को सुव्यवस्थित रूप शायद प्राप्त नहीं हुआ था। ये विचार उस समय केवल प्रवाही परम्पराओं (Floating traditions) के रूप में ही प्रचलित थे। तार्किक पद्धति से दार्शनिक सिद्धान्तों का खंडन मंडन इस समय प्रचलित नहीं हुआ था जिसके फलस्वरूप विभिन्न दार्शनिक विचारों का श्रवण प्रायः श्रद्धा भाव से ही विद्वान् लोग किया करते थे।

तीसरी बात महाभारत के संबंध में ज्ञातव्य यह है कि यद्यपि अन्यान्य दार्शनिक विचारों की चर्चा लोगों में प्रचलित थी तथापि श्वेताश्वतरोपनिषद् में चर्चित सांख्य दर्शन की मूलभूत विचार प्रणाली इन सब में अधिक लोकप्रिय हुई थी। यही कारण है कि मूलतत्व पच्चीस हैं या छब्बीस, या चौबीस ही हैं इस प्रकार की चर्चा में तत्कालीन विद्वान लोग उलझे रहते थे। (सांख्य दर्शन का 'सांख्य' यह नामकरण भी शायद इस मूलतत्व की संख्या संबंधी पूर्वकालीन मतभेद का द्योतक हो)।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में उपनिषत्कालीन विचार से महाभारत को काफी आगे बढ़ा हुआ हम पाते हैं अन्तःकरण और उसके घटक इनका स्वरूप अब पूर्णतया निश्चित हुआ दिखलाई पड़ता है। चित्त के संबंध में काफी विस्तृत चर्चा—जो योग दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं से बहुत कुछ मिलती जुलती है—महाभारत में बिखरी हुई मिलती है। अहंकार का और उसके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में इस ग्रंथ में उपलब्ध है। मन की असामान्य शक्तियों का वर्णन भी अनेक स्थानों में किया गया है। सब कुछ मिलाकर महाभारतीय मनोविज्ञान के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि पारंपरिक सांख्य तथा योग दर्शन की लगभग सभी मूल कल्पनाओं को महाभारत ने—अव्यवस्थित रूप में ही क्यों न हो—हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है।

महाभारत और पुराण इनकी तुलना करने पर उनके मनोवैज्ञानिक विचारों में जो फर्क दिखलाई पड़ता है उसका दो प्रकार से हमारे लिये महत्व है। एक यह कि अधिकांश पुराणों की मनोविषयक अवधारणा पर भगवद्गीता के सुविकसित विचारों का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है। यह अतीव स्वाभाविक बात है। गीता केवल नीति-शास्त्र के एक महत्वपूर्ण तंत्र के रूप में ही उपादेय नहीं है उसका मनोविश्लेषण भी बहुत गहरा और अद्ययावत् (up-to-date) है। महाभारत में ही भगवद्गीता की नकल करने वाली लगभग चौबीस गीतायें समाविष्ट की गयीं हैं, जिसपर से यह स्पष्ट है कि महाभारत कालीन नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक विचारों की सीमा का ही निर्धारण जैसे गीता ने कर दिया था। अतएव पुराणों पर गीता का प्रतिबिंब पड़ना अवश्यंभावी था।

दूसरा महत्व मन संबंधी पौराणिक विचारों का यह है कि उन्होंने—और उनमें भी विशेष कर भागवत तथा अध्यात्म रामायण जैसे भक्ति संप्रदाय प्रवर्तक पुराणों ने—अपने विचारों को भक्ति संप्रदाय के पोषण के लिये काम में लाया। भगवद् भक्ति को सुसंस्कृत मानव जीवन का स्थायिभाव मान कर उसके अधिकाधिक विकास के हेतु संपूर्ण मानवीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यवहार को कैसे प्रयुक्त किया जाय इसी समस्या को भक्ति प्रधान पुराणों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। इसी कारण मनकी स्वाभाविक संकुचित प्रवृत्तियों का कैसे उन्नयन किया जाय ताकि उनका ज्ञात या अज्ञात लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही हो जाय, इस प्रश्न की छानवीन पुराणों में, भगवत्कथा की आड़ में, की गयी थी। उदाहरण के लिये, कृष्ण का चरित्र लीजिये। इसमें ऐसी अनेक बातें समाविष्ट हैं जिनका समाज जीवन पर बहुत ही बुरा असर पड़ सकता है। उदाहरणतः कृष्ण की रास लीलायें, गोपियों का उनके प्रति आकर्षण, सहस्रों स्त्रियों के साथ उनका विलास आदि बातें समाज मन को अनायास ही कलुषित कर सकती थीं। यह बात पुराणकर्ता व्यास या अन्य मनीषियों को अज्ञात थीं, यह कहना बिलकुल बालिशता पूर्ण होगा। इन सब बातों को अच्छी तरह जानकर ही व्यास ने उनके उन्नयन (Sublimation) का बुद्ध्या प्रयत्न किया होना चाहिये। व्यास ने कृष्ण जैसे देवताओं की लोकोत्तर लीलाओं को बहुजन समाज के उत्कट प्रेम मिश्र आदर (भक्ति) की भावना का पात्र बनाकर इनकी ओर देखने का एक नया दृष्टिकोण लोगों को प्रदान किया। इस दृष्टिकोण के प्रभाव से दुःख-दर्द से पीड़ित मानव की आत्मग्लानि की भावना पूर्ण रूप से लुप्त होकर उसके स्थान में आशापूर्ण, उदात्त और भगवच्चरित्र के विशाल आलंबन पर आधारित ऐसी व्यापक जीवन दृष्टि प्रतिष्ठित हो सकी। आधुनिक मनोविश्लेषण पद्धति का प्राचीन भारतीयों द्वारा किया हुआ यह एक सफलतम प्रयोग है।

गीता का मनोवैज्ञानिक परिशीलन उतना ही गहन और मूलगामी है जितना उसका नैतिक चिन्तन। गीता ने जो तथ्य हमारे सामने लाये हैं वे अत्याधुनिक मनो-वैज्ञानिक गवेषणाओं के बिलकुल समकक्ष माने जा सकते हैं। जिस नीतिशास्त्र का गीता ने उपदेश किया है वह मनुष्य जीवन की ठोस वास्तविकता पर आधारित है। उसमें कल्पना की वे सिर पैर की उड़ान बिलकुल नहीं है और न कोरी दार्शनिकता का ही उसमें अवलब किया गया है। मनुष्य समाज को गीता मोटे तौर पर चार वर्गों में बांटती है। ये हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। यह विभाजन बहुत ही महत्वपूर्ण है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने प्रमुख व्यक्तित्व-घटक विशेषताओं (Chief personality traits) के आधार पर व्यक्तित्व के जो विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं उनके साथ गीता के वर्गीकरण की तुलना की जाय तो उसकी अनेक विशेषतायें झलक पड़ती हैं। जबकि आधुनिकों के प्रायः सभी वर्गीकरण व्यक्तित्व के घटकों को सामान्यतया मानसिक विकृतियों के रूप में ही देखते हैं, गीता इन्हें विभिन्न स्वभावों के मनुष्य की प्राकृतिक विशेषतायें ही समझती है। उदाहरणार्थ 'आर्त' व्यक्ति अधिकतर अन्तर्मुख (Introvert) ही पाया जायगा लेकिन इस कारण आर्त की अन्तर्मुखता को मनोविकृति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि इसी अन्तर्मुखता के कारण आर्त सन्मार्ग की ओर अग्रगामी होता हो तो उसके लिये अन्तर्मुखता दोष न होकर गुण ही समझना चाहिये।

वास्तव में अन्तर्मुख और बहिर्मुख यह मनोवृत्तियों संबंधी अवास्तविक अवधारणा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ही गीता को अमान्य है। सामान्यतया मनुष्य जीवन में जो मूलभूत ऐसी प्रवृत्तियां हैं उन्हीं को गीता ने अपने वर्गीकरण का आधार बनाया है। दुःख हानि (या शरणागति), ज्ञान प्राप्ति, अर्थ या सुख समृद्धि का साथ और ज्ञान प्राप्ति से होने वाला संतोष ये सब वे प्रमुख मनोवृत्तियां हैं जो गीता के वर्गीकरण के आधार हैं। इनमें अन्तर्मुख–बहिर्मुख जैसे परस्पर विरोधी वर्गों का संबंध ही नहीं आता। ज्ञान जैसे कुछ ध्येय ऐसे हैं जिनकी साधना करने वाले में थोड़ी बहुत अन्तर्मुखता आये बिना रहेगी ही नहीं। इसी प्रकार अर्थ की प्राप्ति के लिये लालायित व्यक्ति में बहिर्मुखता होना अनिवार्य है। अतः मनुष्य का कोई भी यथार्थ वर्गीकरण उसके जीवन में अभिव्यक्त होने वाली मूल प्रवृत्तियों के आधार पर यदि किया जायगा तो ही उपयुक्त होगा, अन्यथा नहीं।

गीता का संपूर्ण नैतिक दर्शन मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा है। आर्त साधक के लिये शरणागति या भक्ति का मार्ग, जिज्ञासू के लिये निष्काम कर्मयोग का उपदेश, अर्थार्थी को शास्त्रीय कर्मों का यधाविधि पालन करने का आदेश और ज्ञानी को स्थितप्रज्ञ के समान शान्त, सुस्थिर और परितृप्त ऐसा आत्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने का गीता का उपदेश ये सब इन लोगों की विभिन्न मनोवृत्तियों के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित हैं। आर्त या दीन–दुखी और अपाहिज व्यक्ति को किसी धर्म या साधना का उपदेश करना बिलकुल व्यर्थ है। उसमें इतनी जिजीविषा ही नहीं होती कि अपने पैर पर खड़े होकर वह जीवन मार्ग पर अग्रसर हो सके। ऐसे व्यक्ति को समाज के भरोसे छोड़ना भी उचित नहीं। इससे उसके स्वाभिमान का—जो आपत्तियों के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गया है—पूर्ण विनाश ही हो जाने का खतरा है। ऐसे व्यक्ति का उद्धार तो भगवान् की शरणागति से ही हो सकता है। आर्त के लिये और कुछ संभव नहीं हो तो न सही, दीनता तो उसमें ही है। इसी दैन्य भाव को परमात्मा के चरण में लगाकर उसका उन्नयन वह करने लगे तो उसी के भरोसे वह तर सकता है, ऐसा गीता का मंतव्य है।

अर्थार्थी या सुख स्वार्थ की इच्छा करने वाले साहसी व्यक्ति को (तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ) शास्त्र, याने कायदे कानून, और रूढ़ नैतिक नियमों के भरोसे गीता जो छोड़ देती है उसका एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण है। अर्थार्थी जानबूझ कर अपनी जिम्मेदारी पर जीवन में अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए खतरा उठाता है। उसकी सफलता की जिम्मेदारी भगवान् या नियति अपने ऊपर क्यों ले? यदि इसका आचरण नियमानुकूल हो तो वह यशस्वी हो सकता है। ऐसा वह न हो तो उसके आचरण की भलाई–बुराई उसके सिर पर। समाज को, भगवान् को या नियति को उसके यशापयश से कोई सरोकार नहीं।

जिज्ञासू के लिये निष्काम कर्मयोग का जो उपदेश गीता ने किया है वह उसकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का उत्कृष्ट प्रमाण है। जिज्ञासू सत्य को स्वयं जाने बिना उसका पुरस्कार नहीं कर सकता। लेकिन वर्तमान कर्म का फल तो भविष्य में होने वाला होता है। अतः उस पर से वर्तमान कर्म के औचित्य–अनौचित्य का निर्णय संभव नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

किन्तु जीवन यह ऐसी वस्तु नहीं है कि उसमें पग पग पर रुक कर भविष्य का निर्णय कर ही आगे बढ़ा जाय। हरेक को कर्म करना पड़ता है और अक्सर अधिक विचार करने की फुरसत भी नहीं होती। ऐसी परिस्थिति में एक सत्यनिष्ठ जिज्ञासू के लिये एक ही मार्ग अवलंबनार्ह हो सकता है। वह है निष्काम कर्मयोग का। यदि भविष्य का विचार संभव नहीं तो वर्तमान कर्म का विचार तो संभव है ही। अतः इसी पर सारा ध्यान केन्द्रित कर जिज्ञासू को आचरण करना चाहिये। इसका मतलब यह नहीं कि ऐसा आचरण सफल होने की आशा नहीं। जहां तक मनुष्य की बुद्धि का सवाल है, आचरण की सफलता-निष्फलता का निर्णय उसके द्वारा असंभव है। इस निर्णय के अभाव में जितनी तत्परता (sincerity) के साथ समझदार मनुष्य के लिये कार्य करना संभव है उतनी तत्परता—वर्तमान के प्रति—दिखाना ही उसका परम कर्त्तव्य है। किन्तु जिन आध्यात्मिक तत्वों के आधार पर विश्व की रचना हुई है उनके रहते तत्परतापूर्वक किया गया मनुष्य का कोई कार्य निष्फल हो ही नहीं सकता, ऐसा गीता का पूर्ण आश्वासन है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'। इस तरह, कांट, प्लेटो और अरस्तू इन तीनों महान् पाश्चात्य दार्शनिकों के नीति दर्शनों का सुन्दर समन्वय गीता में हमें उपलब्ध होता है।

गीता में अनेक मूलगामी मनोवैज्ञानिक तथ्य यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। इन सब का संकलन कर गीता के मनोविज्ञान की पूर्ण तस्वीर खड़ी करने के लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ की जरूरत है। यहां हम कुछ तथ्यों का नामनिर्देश मात्र कर सकेंगे। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है या नहीं इस प्रश्न के संबंध में कितने सहज रूप में गीता यह अंतिम उत्तर दे देती है:—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

मनुष्य का शारीरिक जीवन तो नैसर्गिक घटना-चक्र का ही एक अंग है। नियति ही मनुष्य के जीवन का संचालन उसके जाने या अनजाने किया करती है। फिर भी अहंकारग्रस्त मनुष्य व्यर्थ ही कर्तृत्व का घमंड करता रहता है।

मानवीय व्यक्तित्व की रचना किस मूलतत्व पर अधिष्ठित होती है, इस मनोवैज्ञानिक प्रश्न के आधुनिक विद्वानों ने अलग अलग उत्तर दिये हुए हैं। कोई कहता है कि व्यक्तित्व का प्रमुख घटक जटिल भावनायें (Sentiments) हैं और कोई कहता है कि यह घटक विभिन्न ध्येय(Purposes) हुआ करते हैं। गीता का इस प्रश्न का समाधान अतीव सरल और मूलगामी है। वह कहती है कि—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः'।

मनुष्य का व्यक्तित्व श्रद्धाओं से गढ़ा जाता है। श्रद्धायें न उद्वेग होती हैं, न Purpose या ध्येय। किसी ध्येय का बुद्धिपूर्वक और सतत पुरस्कार करते करते जब उनका मनके अवचेतन स्तर तक प्रवेश हो जाता है और उन्हीं के द्वारा ज्ञात या अज्ञात

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप से आचरण का निर्देशन होने लगता है तब उन्हें श्रद्धा का स्वरूप प्राप्त होता है। ये श्रद्धायें ही व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं।

आधुनिक उन्नयन सिद्धान्त (Theory of sublimation) का कितने सहजरूप में गीता में स्पष्टीकरण किया गया है, यह जानना हो तो यह श्लोक देखिये—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

आग्रहपूर्वक इन्द्रिय संयम (Repression) करने वाला व्यक्ति वास्तविक संयम में कभी सफल नहीं हो सकता। विषयों में उसकी सूक्ष्म आसक्ति तो बनी ही होती है। इस आसक्ति का पूर्ण निराकरण तो सब विषयों से कहीं अधिक श्रेष्ठ ऐसे परमात्मा के साक्षात्कार से ही हो सकता है।

गीता पर अब तक अनेकानेक ग्रंथ लिखे गये हैं। लेकिन गीता की मनोवैज्ञानिक गवेषणाओं का इनमें से शायद ही किसी ग्रंथ ने विचार किया हो। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिये गीता में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है, जो यदि प्रकाश में लायी जाय तो गीता की अक्षयावतता से विद्वान् लोग प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे।

विभिन्न भारतीय दर्शन-संप्रदायों की विभिन्न मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं पर प्रस्तुत पुस्तक में कुछ लेख हमने संकलित किये हैं। ये लेख अपने विषयों का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं। इस पर से भारतीय मनोविज्ञान के विस्तार की समुचित कल्पना नहीं की जा सकती। कुछ विषयों पर के लेख अतीव संक्षिप्त हैं। चाहते हुए भी हम कुछ विद्वानों के पर्याप्त सहयोग के अभाव में, और कुछ लेखकों की अत्यन्त व्यस्तता के कारण, इस विषय से संबंधित संपूर्ण सामग्री को पाठकों के सामने उपस्थित नहीं कर सके। इतना ही नहीं, भारत के प्रायोगिक मनोविज्ञान संबंधी निष्कर्षों को भी हम यथाविधि—संक्षेप में ही क्यों न हो—इस पुस्तक में संकलित नहीं कर सके। इस तरह अनेकानेक त्रुटियां पुस्तक में रह गयी हैं। तथापि हम आशा करते हैं कि हिन्दी भाषा में उपस्थित की गयी अपने ढंग की निराली इस सर्वप्रथम कृति का विद्वान पाठक, और सभी समीक्षक, स्वागत ही करेंगे।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने अत्यधिक विश्वास के साथ यह कार्य मेरे ऊपर सौंपा था। अनेकों के सहयोग से ही संपन्न हो सकने वाले इस कार्य की कठिनाइयों का, कार्यभार स्वीकार करते समय, मैं अनुमान भी नहीं कर सका। मेरे प्रिय मित्र तथा परिषद् के मंत्री श्री यशदेव जी शल्य का पूर्ण सहयोग और बढ़ावा मुझे समय समय पर न मिलता तो इस रूप में भी इस पुस्तक को प्रस्तुत करना मुझ से संभव न होता। मेरे अन्यान्य मित्रों और गुरुओं ने भी इस कार्य में मुझे पर्याप्त सहयोग प्रदान किया। इन सब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों तथा सम्पादक का संक्षिप्त परिचय

लेखक—

१. श्री भीखन लाल आत्रेय डी. लिट्., पद्मभूषण, भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान तथा भारतीय धर्म एवं दर्शन विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय। योगवासिष्ठ के दर्शन के प्रथम परिष्कर्ता। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रधान। भारत के वर्तमान मान्य दार्शनिकों में से अन्यतम हैं।

२. श्री वि. मि. वेडेकर—महाराष्ट्र की एकमात्र सुप्रसिद्ध मासिक संशोधन पत्रिका 'नवभारत' के भूतपूर्व संपादक। संप्रति भांडारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट में महाभारत पर संशोधन कार्य में संलग्न हैं। सांख्य दर्शन तथा महाभारत से संबंधित अन्यान्य विषयों पर अनेक शोध निबंध भांडारकर रिसर्च जर्नल में प्रकाशित किये हैं।

३. श्री रामचन्द्र पाण्डेय व्याकरणाचार्य, एम. ए., पीएच. डी.। Philosophy of Meaning in Indian Thought इस व्याकरण दर्शन के शब्दार्थ विवेचन परक ग्रंथ के लेखक। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याकरण तथा दर्शन की शिक्षा पायी। तदनतर प्रथम कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में और संप्रति दिल्ली विश्वविद्यालय में दर्शनाध्यापन का कार्य कर रहे हैं।

४. श्री जितेन्द्रनाथ मोहान्ती, एम. ए., पीएच. डी.। कलकत्ता विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त। गोषेटिंगेन विश्वविद्यालय से हाइडेगर एवं व्हाइटहेड के दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन पर पी.एच.डी. पदवी द्वारा सम्मानित, Indian Philosophical Congress के विश्वभारती अधिवेशन के तर्क शास्त्र विभाग के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष। अनेक विद्वत्तापूर्ण शोध निबन्धों के लेखक।

५. श्री अ. ग. जावडेकर, एम. ए., पीएच्. डी., बड़ौदा विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष। अनेक शोध निबंधों तथा एक मौलिक दार्शनिक ग्रंथ के रचयिता। Indian Philosophical Congress के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष तथा आगामी अधिवेशन के मनोनीत शंकर जयंती लेक्चरर।

६. श्री पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री, एम. ए., एम. लिट्., पीएच. डी. (संस्कृत तथा इंग्लिश में)। संस्कृत, इंग्लिश, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास इन विविध विषयों पर प्रभूत लेखन कार्य किये हुए विद्वान्, संशोधन कर्ता। सागर विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी के भूतपूर्व सहायक अध्यापक तथा संप्रति नागपुर विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के अध्यक्ष।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

७. श्री बलिराम येरकुंटवार। नागपुर के एक सुप्रतिष्ठित संशोधन कर्ता। आयुर्वेद मनोविज्ञान, साहित्यशास्त्र आदि विषयों से संबंधित अनेक मौलिक निबंधों के प्रणेता। "प्रज्ञालोक" नामक एक मराठी त्रैमासिक के संपादक।

८. श्री नीलरत्न वऱ्हाडपांडे, एम. ए., बी. लिट्., ऑक्सफोर्ड, पीएच. डी.। श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक, भारत सरकार के सुरक्षा विज्ञान संस्था के मनोवैज्ञानिक के पद पर कार्य कर रहे हैं। हिन्दी, मराठी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में मौलिक तथा शोधपूर्ण लेखन करने वाले। 'सुख–दुःख विवेक' तथा 'Ability and Education' इन दो संशोधनात्मक ग्रंथों के रचयिता।

नारायण शास्त्री द्राविड़, एम. ए., न्यायाचार्य, पीएच. डी.। नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर दर्शन विभाग के अध्यक्ष। इंगलिश, हिन्दी तथा मराठी में अनेक दार्शनिक निबन्धों के तथा वेदान्त पर मराठी में एक मौलिक ग्रंथ के लेखक।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नामानुक्रमणिका

नोटः—इस नामानुक्रमणिका में पृ० सं० १२८–३० पर दी गयी नामावली में संकलित नाम समाविष्ट नहीं किये गये हैं।

अर्जुन मिश्र ३३।
असित देवल २७।
आइसेंक १०६।
आत्रेय १६।
इडिंग्टन १००।
ईश्वर कृष्ण ३१।
कामत १२६, १२८।
कुमारिल ४०, ५५, ५७, ६८।
कोहलर ११६।
क्लार्क ग्रॉस १०४, १०५।
गागाभट्ट ६८।
गीता १८, ११२, ११४।
गोपाल स्वामी, डा० १२७, १२६।
गौडपाद ५७।
गौतम ५२।
चरक ६६, १०३, ११०, ११२, ११४, ११६, ११८।
चार्वाक ५६।
चौधरी, पी. एस. १२६।
जयन्त ६८।
जेन्दरकर, डॉ. १२७।
दासगुप्त, डॉ. १०३।
दिङ्नाग ४७।
धर्मकीर्ति ६८।
धर्मराजाध्वरीन्द्र ६८।
धन्वन्तरि १०१।
नीलकंठ ३३।
नलिन १०८।
पतञ्जलि १५।
पावलोव १०६।
पॉलिंग, लिनस १००।
पार्थसारथि ६८।
पॉल, जी. १२६।
प्रभाकर ५४, ५६, ६५।
प्रसाद, के. १२६।
प्रमेयकमल मार्तण्ड ६८।
फ्रॉयड १०३, १०५, १२८।
वर्ट, सर शिरिल ६७।
वोआज् ६८, १०६, १०८, १०६।
वोस, डा० १२५।
बृहस्पति २६।
भट्ट ५६।
भट्टारिका, परा १२४
भाटिया, डा० १२६।
भाट्ट चिन्तामणि ६७।
भीष्म २१, २५।
भृगु २३, २४
मनु २५।
मर्फी, गार्डिनर १२७, १२८।
मैक्डूगल ६६, १०१, १०२, ११०, १११, ११२।
माठराचार्य ११७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मैती, पी. १२७।
याज्ञवल्क्य २६।
युधिष्ठिर २१, २३, २५।
युंग ६६, ६७, १०२, १०७।
राधाकृष्णन् ६८।
रामचन्द्र १।
रामानुज ६६, ६५, ६६, ७६।
वसिष्ठ १, ११, १३।
वाट्सन, डा० ११७।
वाचस्पति ६८।
वाल्मीकि १।
विज्ञानभिक्षु ६८।
विश्वनाथ ४०।
व्यास भाष्य ६८।
व्हाइट, लेस्ली ११७।
शर्ले १०८।
शंकर १, ५६, ६५।
शालिक नाथ ६८।
शांतरक्षित ६८।
शिरोमणि, रघुनाथ ७२, ७३।
सुश्रुत ६५, ६७, ६८, १०२, ११०, ११२, ११५, ११६, ११८।
सेन १२७।
सेन गुप्ता १२५।
स्टाइग्लिथ ई. बी. १११।
स्पियरमन ११३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai